ॐ

भारतीय संस्कृति

एक जीवन दर्शन

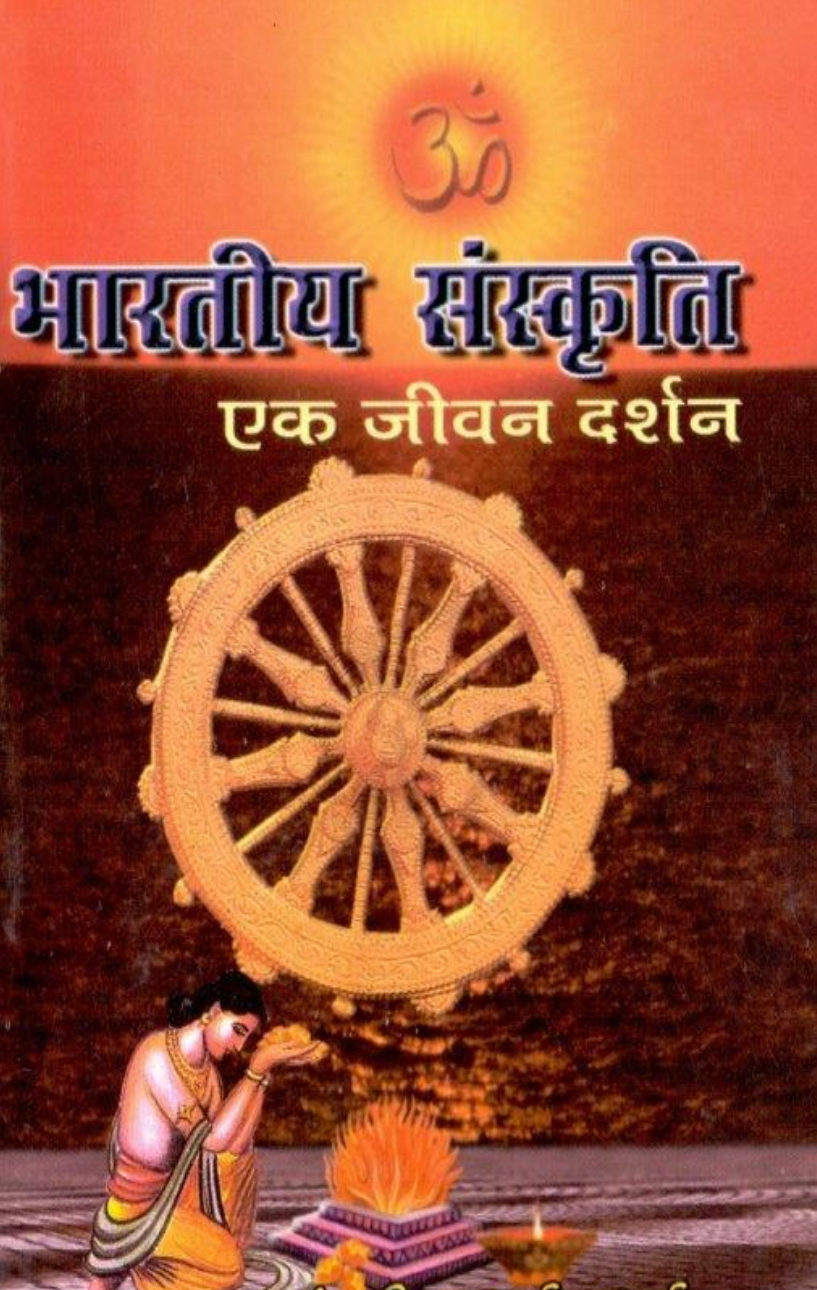

भारतीय संस्कृति

एक जीवन दर्शन

लेखक

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् **२०११** मूल्य : ३३.०० रुपये

अनुक्रमणिका

१-भारतीय संस्कृति (भूमिका)	३
२-भारतीय संस्कृति के मानबिंदु	११
३-भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ	३२
४-भारतीय संस्कृति की मान्यताएँ	५८
५-भारतीय जीवन शैली	९४
६-भारतीय संस्कृति के प्रतीक	९९
७-भारतीय संस्कृति में देववाद	११९
८-भारतीय संस्कृति में सामाजिक पक्ष	१४९
९-सर्वोपयोगी वर्णाश्रम व्यवस्था	१५०
१०-गायत्री, गौ, गीता और गंगा जी	१६९

भारतीय संस्कृति

जब कोई समाज कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी अपने व्यक्तिगत मान–अपमानों की परवाह किए बिना अपने राष्ट्र, अपनी मातृभूमि के अस्तित्व पर आए संकट या संघर्ष में अपने प्राणों की बाजी लगाता है या फिर बलिदान हो जाता है, तो वह व्यक्तिगत रूप से उस राष्ट्र और समाज की संस्कृति की ही रक्षा करता है और बलिदान होना ही, उस बलिदानी वीर पुरूष की संस्कृति है।

यह संस्कृति ही है, जो राष्ट्र पर मर मिटने के लिए प्रेरित करती है और मर कर भी जब संतोष नहीं होता है, तो बलिदानी वीर पुरूष अगले जन्म में भी अपनी उसी मातृभूमि पर पैदा होकर अपने प्राणों को अपनी मातृभूमि के लिए अर्पित करने की ईश्वर से कामना करता है।

कहते हैं कि किसी भी राष्ट्र और उसके नागरिकों के अस्तित्व के लिए संस्कृति उतनी ही महत्वपूर्ण है, जितना कि उनके लिए भोजन, हवा और पानी। जिस प्रकार भोजन, हवा और पानी के बिना कोई राष्ट्र और उसके नागरिक जीवित नहीं रह सकते उसी प्रकार बिना संस्कृति के राष्ट्र और नागरिकों का कोई अस्तित्व नहीं रह सकता है। इसलिए यह सत्यता है कि संस्कृति किसी व्यक्ति के प्राणों की रक्षा भले ही न करती हो, पर राष्ट्र के अस्तित्व की रक्षा अवश्य करती है। इसलिए प्रत्येक राष्ट्र और जाति की अपनी अलग–अलग संस्कृति होती है, उसी के अनुसार उस समाज, उस राष्ट्र और उस जाति की पहचान होती है।

आज संसार में योरोपियन, अमरीकन, रूसी, चाइनीज,

अरबी आदि अनेक संस्कृतियाँ पाई जाती हैं, पर इस संसार के सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है कि इनमें सबसे पुरानी संस्कृति भारतवर्ष की ही है। साथ ही हम यह भी कह सकते हैं कि भारतीय संस्कृति सबसे प्राचीन ही नहीं, सबसे श्रेष्ठ भी है, क्योंकि संसार की अन्य संस्कृतियों में आध्यात्मिकता का बहुत ही कम अंश पाया जाता है या अधिकांश आधिभौतिक विषयों तक ही सीमित है, पर भारतीय संस्कृति का मुख्य लक्ष्य आध्यात्मिक उन्नति ही है, क्योंकि जो संस्कृति मनुष्य में 'पंच तत्वों का पुतला' होने की भावना भर दे और इस जीवन के बाद किसी प्रकार की आशा, भरोसा न दिला सके, वह मनुष्य या समाज की उन्नति कदापि नहीं कर सकती।

भारतीय संस्कृति ने आधिभौतिक अथवा लौकिक उन्नति की अवहेलना नहीं की है, जीवन को सुखी बनाने का मार्ग उसने स्पष्टता से समझाया है, पर अंतिम लक्ष्य सदैव आध्यात्मिक उन्नति को ही समझा है अथवा यह कहना चाहिए कि उसने समस्त लौकिक कार्यों और उद्योगों का संबंध आध्यात्मिक उन्नति से ही जोड़ दिया है, जिससे मनुष्य भौतिकवाद के दोषों से बच सके और समस्त सांसारिक कार्यों को करते हुए आत्म–कल्याण के ध्येय को न भूले। अगर हमारी संस्कृति के निर्माताओं ने इस बात का ध्यान आरंभ से ही न रखा होता तो हमें भी वही दिन देखना पड़ता जो आज योरोप, अमरीका में दिखाई पड़ रहा है। वहाँ इस समय एक ओर भौतिक उन्नति और वैभव की पराकाष्ठा दिखलाई पड़ रही है, तो दूसरी ओर स्वार्थ, ईर्ष्या–द्वेष, क्रोध, हत्या, व्यभिचार आदि की इतनी अधिकता पाई जाती है कि वे लोग किसी भी दिन अपने वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा आप ही नष्ट हो सकते हैं। इस अवस्था में अगर उनकी रक्षा होगी तो वह भारतीय सभ्यता के सिद्धांतों (पंचशील) के

अपनाने से ही संभव होगी है।

भारतीय सभ्यता की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जहाँ अन्य देशों ने अपने धर्म, सभ्यता, संस्कृति का सर्वोच्च लक्ष्य सांसारिक सुख और भोग की सामग्री प्राप्त करना समझ रखा है, भारतवर्ष का लक्ष्य सदा त्याग का रहा है। दूसरों के भोगवाद के मुकाबले में हम यहाँ की संस्कृति का आधार त्यागवाद कह सकते हैं। अब यह स्पष्ट है कि जहाँ के मनुष्यों का लक्ष्य भोगवाद होगा वहाँ दूसरों से परस्पर संघर्ष चलता ही रहेगा, क्योंकि संसार में जितनी भोग–सामग्री है, उसके मुकाबले में मनुष्य की तृष्णा कहीं अधिक बढ़ी–चढ़ी है। ऐसी जातियों के व्यक्ति पहले विदेशी अथवा अन्य जाति के लोगों को लूटने–मारने का कार्य करते हैं और फिर जब बाहर का मार्ग रूक जाता है तो अपने ही देश के भाइयों पर हाथ साफ करने लगते हैं। उनके सामने कोई ऐसा आदर्श अथवा लक्ष्य नहीं होता, जिसके प्रभाव से वे ऐसे काम को बुरा समझें। उनको तो यही सिखाया गया है कि यह संसार सबलों के लिए है और यहाँ वही सफल मनोरथ होता है, जो सबसे अधिक शक्तिशाली या संघर्ष के उपयुक्त होता है।

इसके विपरीत भारतीय संस्कृति यह सिखलाती है कि इस संसार में जितनी भौतिक वस्तुएँ दिखलाई पड़ती हैं, उनका महत्व बहुत अधिक नहीं है, वे क्षणभंगुर हैं और किसी भी समय नष्ट हो सकती हैं। वास्तविक महत्व की चीज आत्म–सत्ता या परमात्मतत्त्व ही है, जो स्थायी और अविनाशी है। इसलिए मनुष्य को, जब तक वह संसार में है, भौतिक वस्तुओं का संग्रह और उपभोग तो करना चाहिए, पर अपनी दृष्टि सदा उसी सत्य आत्म–तत्त्व पर रखनी चाहिए, जो कि सब भौतिक वस्तुओं का मूल आधार है और जिसमें मनुष्य को–जीवात्मा को सदैव

निवास करना है। इस भावना के प्रभाव से मनुष्य स्वार्थान्ध होने से बचा रहता है और वह अपने हित के साथ दूसरों के हित की रक्षा का भी ध्यान रखने में समर्थ होता है। वह अन्याय और अत्याचार के कार्यों से पाप समझ कर बचता है और इस प्रकार समाज में न्याय और सुख–शांति की स्थापना होती है। यही कारण है कि भारतीयों ने सब प्रकार की शक्ति प्राप्त करके भी कभी संसार को गुलाम बनाने की बात नहीं सोची और न कत्लेआम द्वारा किसी अन्य राष्ट्र का नामो–निशान मिटा देने का प्रयत्न किया। कोई समय ऐसा भी था कि संसार भर के धन का केंद्र भारत ही था और यहाँ सचमुच सोने और रत्नों के मंदिर और महल बनाए गए, पर उसने धन को अपना आदर्श कभी नहीं बनाया और उसके द्वारा अन्य देशों को अपने अधिकार में लाने की योजना कभी नहीं बनाई गई। सब प्रकार के सांसारिक वैभव को भोगते हुए भी उसने सदैव यह ख्याल रखा कि उसके ऊपर एक और सत्ता उसे दंड दिए बिना नहीं छोड़ेगी। इसी आध्यात्मिक भावना के आधार पर उसका जीवन सदैव संयमयुक्त बना रहा और वह सब मनुष्यों को ही नहीं समस्त प्राणियों को एक ही परम पिता के बनाए मान कर, करूणा और प्रेम का पात्र समझता रहा।

भारतीय संस्कृति की दूसरी विशेषता यह है कि इसका कभी एक समाज या श्रेणी विशेष से संबंध नहीं रहा। जैसे आजकल किसी देश की संस्कृति में पूंजीपतियों की ही प्रधानता है, किसी में मजदूरों का सिक्का लगा है, किसी में पुरातन पंथियों का जोर है तो कहीं नवपंथियों के सिर पर ही सेहरा बांधा जाता है, वैसी दशा भारतीय संस्कृति में किसी काल में नहीं रही। किसी एक प्रदेश में किसी राजा या धर्मध्वजा धारी ने अपने विरोधियों पर अत्याचार किए हों या किसी भाग को

कुचल डाला हो तो यह तो दूसरी बात है, पर समस्त देश की दृष्टि से भारतीय संस्कृति में कभी कोई ऐसा विधान स्वीकार नहीं किया गया जिसके अनुसार एक समुदाय को तो सब प्रकार की सुविधाएँ और सुख मिले हों और दूसरे को भूखों मरने को छोड़ दिया गया हो। सच तो यह है कि यहाँ की संस्कृति में शोषण का सिद्धांत जो वर्तमान समय का मूल–मंत्र बना हुआ है, कभी स्वीकार नहीं किया गया और सदा यही घोषणा की गई–

''आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।''
''पर हित सरिस धर्म नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥''

इस प्रकार सारे पदार्थ किसी खास आदमी या खास जाति के लिए नहीं बनाए हैं, इसलिए न्यायानुसार उन पर मनुष्य मात्र का समान अधिकार है। भूमि, जल, हवा, समुद्र आदि प्रकृतिप्रदत्त पदार्थों पर किसी व्यक्ति के द्वारा एकाधिकार जमाने की चेष्टा पर बड़ा भारी जुर्म या परमात्मा के खिलाफ बगावत की तरह माना जाता था। हमारा अनुमान है कि आज कल के साम्राज्यवादियों या पूंजीवादियों की तरह प्राचीनकाल में रावण और कंस आदि इसी विचारधारा के मनुष्य थे। इसी कारण उनको राक्षस की पदवी दी गई और जनता–जनार्दन ने उनके नाश की मांग की, जो परमात्मा द्वारा शीघ्र ही पूर्ण की गई। भारतीय विचारकों ने ऐसे अस्वाभाविक सिद्धांतों की जड़ ही यहाँ न जमने दी। वास्तव में संसार में सबसे बड़ा आश्चर्य यही है कि परमात्मा ने मनुष्य को पृथ्वी पर भेजा, पर यहाँ बैठने के लिए उसको स्थान नहीं मिल सका। यह जानते हुए भी भूमि को कोई साथ नहीं लाया, किसी ने उसको बनाया भी नहीं, कुछ लोगों ने उस पर अपनी मुहर लगा रखी है और वे दूसरों को

उसमें रहने से रोकते हैं। इसका तो मतलब यही निकलता है कि ऐसे लोगों ने परमात्मा की देन पर जबर्दस्ती अधिकार जमा लिया है और वे पीछे आने वालों को उसके प्रसाद से वंचित करते हैं। ऐसे कार्य को परमात्मा के खिलाफ बगावत करना न कहा जाए तो और क्या कहा जाए? लेकिन भारतीय संस्कृति की यही सबसे बड़ी विशेषता और श्रेष्ठता है कि उसने आरंभ में ही स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि संसार की वस्तुएँ किसी व्यक्ति विशेष की नहीं है और समाज में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को उनके उपयोग करने का अधिकार है। भारतीय संस्कृति के मूल स्रोत वेद में कहा है–

ये समानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः।
येषां श्रीर्मयि कल्पतामस्मिल्लोके शतं समाः॥

(यजु. १९/४६)

"समस्त जीवों में जो मन से साम्यभाव वाले हैं, वही मुझको प्रिय है और उन्हीं की संपत्ति सैकड़ों वर्ष तक रहती है।"

समानी प्रपा सहवो अन्नभागः समाने योक्त्रे सहवो युनिज्म।
सम्यञ्चोऽग्निं समर्य तारा नाभिः सिवासितः॥

(अथर्व. ३/३०/६)

"तुम्हारे दुग्धादि पेय पदार्थ समान हों और अन्न का विकास साथ–साथ हो। जिस प्रकार रथ की नाभि के चारों ओर के अरे एक समान होते हैं, उसी प्रकार तुम सब लोग एक समान यज्ञ करो।"

इस प्रकार वेदों में आरंभ से ही मनुष्यों को भाइयों की तरह न्याय और प्रेमपूर्वक रहने की शिक्षा दी है, क्योंकि यही समाज की उन्नति और सुखी रहने का राज–मार्ग है। जहाँ पर छोटे–बड़े की भावना होगी, वहाँ ईर्ष्या द्वेष का उत्पन्न होना भी स्वाभाविक है और ईर्ष्या–द्वेष के फलस्वरूप अपहरण, हिंसा

आदि की उत्पत्ति होनी निश्चित है। इसलिए वेद ने अपने न्याययुक्त भाग से ही संतुष्ट रहने का उपदेश दिया है–

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथां मागृधः कस्य स्विद्धनम्॥
कुर्वन्नेवेहं कर्माणि जिजीविषेच्छत समाः।
एवे त्वयि नान्यथेतोस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

यजुर्वेद ४०।१–२

''इस संसार में परमात्मा को सर्वत्र हाजिर–नाजिर समझ कर किसी के भी धन की इच्छा न करो, किंतु उतने से ही निर्वाह करो, जितना उसने तुम्हारे लिए निश्चित किया है। आजीवन इस प्रकार कर्म करने से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है और कोई दूसरा उपाय नहीं है।''

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय संस्कृति में वे सब गुण पाए जाते हैं, जिनकी मानव जाति के कल्याणार्थ आवश्यकता बतलाई जाती है। आजकल संसार में फैले हुए दोषों को दूर करने का उपाय समाजवाद अथवा साम्यवाद बतलाया जाता है और दुनिया के एक बड़े भाग में उसका प्रचार भी हो रहा है। वह पूँजीवाद को मिटाकर उत्पत्ति और वितरण के साधनों पर समाज का नियंत्रण स्थापित करने का समर्थन करता है, जिससे हरएक व्यक्ति को न्यायानुसार काम करने और जीवन–निर्वाह की सामग्री पाने की सुविधा मिल सके, पर अभी तक समाजवाद की जो कुछ प्रगति हुई है, उसमें गरीबों के कुछ हित के साथ ही कई दोष भी दिखाई पड़ते हैं। एक तो उसमें ईर्ष्या–द्वेष की वृद्धि पहले से भी अधिक देखने में आती है और दूसरे बेईमानी, कामचोरी, उच्छृंखलता, चरित्रहीनता आदि की भी उसमें ठीक रोकथाम नहीं हो पाती। कई विद्वानों के मत में इन त्रुटियों का कारण समाजवाद में निरीश्वरवाद का बोलवाला और आध्यात्मिक भावनाओं का अभाव ही है। इसके विपरीत

भारतीय संस्कृति में जो सब मनुष्यों से समानता का व्यवहार और अपने न्यायोचित भाग से अधिक न लेने का विधान है, उसकी नींव ही आध्यात्मिकता और आस्तिकता पर रखी गई है। यहाँ पर जनक जैसे राजाओं के उदाहरण मिलते हैं, जो एक बड़े प्रदेश के शासक होते हुए भी अपने निर्वाह के लिए स्वयं खेती करते थे। यहाँ कर्ण का भी उदाहरण मिलता है, जो अपनी नित्य की आय को प्रातः होते ही याचकों में बाँट देता था, यहाँ के इतिहास में हर्ष जैसे राजाओं का भी वर्णन है, जो प्रति वर्ष अपनी समस्त संपदा को बाँटकर एक वस्त्र के सिवाय कुछ शेष न रखते थे। इस प्रकार जो काम आजकल समाजवाद कानून और दंड के भय से कराना चाहता है, वह भारतीय सभ्यता ने दान और त्याग के प्रचार द्वारा कहीं अधिक अच्छी तरह सिद्ध करके दिखा दिया था।

भारतीय संस्कृति के अनुसार एक भारतीय का समस्त जीवन ही सत्य, न्याय, उदारता, त्याग आदि कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए अर्पित माना जाता है। वह जीवन–निर्वाह के लिए भी जो कुछ उद्योग और प्रयत्न करता था, वह भी इसी उद्देश्य से कि अपने शरीर और मन को ठीक दशा में रखकर अपने सब प्रकार के कर्त्तव्यों की पूर्ति में समर्थ हो सके। यह दूसरी बात है कि बीच में अनेक स्वार्थी और धर्मशून्य व्यक्तियों ने इस परंपरा को बिगाड़ दिया और समय के प्रभाव से अपने आदर्शों के विपरीत मार्ग पर भी चलने लगे, पर इसमें भारतीय संस्कृति तथा उसके उच्च आदर्शों पर कोई लाँछन नहीं आ सकता। लेखक ने इस पुस्तक में उसके शुद्ध स्वरूप को ही दिखलाया है और यह सिद्ध कर दिया है कि हमारे देश का कल्याण तभी हो सकता है, जब हम हृदय से अपनी संस्कृति को समझेंगे और उसका पालन करेंगे।

✹ *युग निर्माण योजना*

भारतीय संस्कृति के मानबिंदु

मानवता

प्रत्येक व्यक्ति की आंतरिक इच्छा यह होती है कि वह सुख–शांति से रहे, अधिक से अधिक जीवन का आनंद लेकर दीर्घ काल तक आंतरिक शांति–संतोष का रस लूटता रहे। सामूहिक रूप से समुन्नत विचार वाले विद्वानों तथा विचारकों ने समय–समय पर इसी उद्‌देश्य की सिद्धि के लिए ऐसे विचार तथा कार्य के रूप स्थिर किए हैं, जिनके अनुसार आचरण करने से समस्त सांसारिक और आध्यात्मिक सुख–साधन प्राप्त हो सकते हैं। व्यक्ति और समाज आनंदित हो सकता है और पृथ्वी पर ही स्वर्ग की सृष्टि हो सकती है। यदि इन विचारों के अनुसार जीवन ढाल लिया जाए तो मनुष्य का जीवन मधुर बन सकता है और समाज में देवत्व विकसित हो सकता है।

संसार के जिन विचारकों ने इन विचार तथा कार्य प्रणालियों को सोचा और निश्चित किया है, उनमें भारतीय विचारक सबसे आगे रहे हैं। विचारों की पकड़ और चिंतन की गहराई में हिंदू धर्म की तुलना अन्य संप्रदायों से नहीं हो सकती। भारत के हिंदू विचारकों ने जीवन मंथन कर जो नवनीत निकाला है, उसके मूलभूत सिद्धांतों में वह कोई दोष नहीं मिलता, जो अन्य संप्रदायों या मत–मजहबों में मिल जाता है। हिंदू धर्म महान् मानव–धर्म है, व्यापक है और समस्त मानव मात्र के लिए कल्याणकारी है। वह मनुष्य में ऐसे भाव और विचार जागृत करता है, जिन पर आचरण करने से मनुष्य और समाज स्थाई रूप से सुख और शांति का अमृत–घूँट पी सकता

है। हिंदू संस्कृति में जिन उदार तत्वों का समावेश है, उनमें तत्त्वज्ञान के वे मूल सिद्धांत रखे गए हैं, जिनको जीवन में ढालने से आदमी सच्चे अर्थों में ''मनुष्य'' बन सकता है।

''संस्कृति'' शब्द का अर्थ है सफाई, स्वच्छता, शुद्धि या सुधार। जो व्यक्ति सही अर्थों में शुद्ध है, जिसका जीवन परिष्कृत है, जिसके रहन–सहन में कोई दोष नहीं है, जिसका आचार–व्यवहार शुद्ध है, वह सभ्य और सुसंस्कृत कहा जाएगा। ''सम्यक करण संस्कृति''–प्रकृति की दी हुई कैसी भी भद्दी मोटी कुदरती चीज को सुंदर बनाना, संभाल कर रखना, अधिक उपयोगी और श्रेष्ठ बनाना मानवीय संस्कृति है। जब हम भारतीय या हिंदू संस्कृति शब्दों का प्रयोग करते हैं, तो हमारा तात्पर्य उन मूलभूत विचारों से होता है, जिन पर आचरण करने से मानव–जीवन में अच्छे संस्कार उत्पन्न हो सकते हैं और जीवन शुद्ध परिष्कृत बन सकता है। हम देखते हैं कि प्रकृति में पाई जाने वाली वस्तु प्रायः साफ नहीं होती। बहुमूल्य हीरे, मोती, मानिक आदि सभी को शुद्ध करना पड़ता है। कटाई और सफाई से उनका सौंदर्य और निखर उठता है और कीमत बढ़ जाती है। इसी प्रकार सुसंस्कृत होने से मानव का अंतर और बाह्य जीवन सुंदर और सुखी बन जाता है। सुसंस्कृत व्यक्ति समाज और देश के लिए अधिक उपयोगी होता है। उसका आचार–व्यवहार, रहन–सहन संभाला हुआ, सुंदर, आकर्षक और अधिक उपयोगी होता है। फिर उस व्यक्ति का परिवार तथा उसके बच्चों के संस्कार भी अच्छे बनते हैं। इस प्रकार मानव मात्र ऊँचा और परिष्कृत होता है और सद्भावना, सच्चरित्रता और सद्गुणों का विकास हो जाता है। अच्छे संस्कार उत्पन्न होने से मन, शरीर और आत्मा तीनों ही सही दिशाओं में विकसित होते हैं। मनुष्य पर संस्कारों का ही गुप्त

रूप से राज्य होता है। जैसे संस्कार होते हैं, वैसा ही चरित्र और क्रियाएँ होती हैं। इस गुप्त आंतरिक केंद्र में संस्कार के सुधारने से शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शुद्धि का राजमार्ग खुल जाता है। तात्पर्य यह है कि संस्कृति जितनी अधिक विस्तृत होती है, जितना ही उसका दायरा बढ़ता जाता है, उतना ही मानव स्वर्ग के स्थाई सौंदर्य और सुख के समीप आता जाता है। सुसंस्कृत मनुष्यों के समाज में ही अक्षय सुख–शांति का आनंद लिया जा सकता है।

संस्कार का बड़ा महत्व है। संस्कार का अर्थ है–शुद्ध परिष्कृत मन, मँजा हुआ दिल, उच्च आत्मा। जिसने अपना आंतरिक संस्कार कर लिया है, उसके कार्य स्वतः अच्छे होंगे। वह पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक सभी प्रकार के कर्त्तव्य पूर्ण कर सकेगा। जिस व्यक्ति ने अपने संस्कार, अपना दिल जितना साफ कर लिया है, वह उतना ही सुसंस्कृत कहलाएगा। जो जितना ही सुसंस्कृत है, उसका जीवन उतना ही उच्च और मधुर रहेगा। ''संस्कृति'' प्राप्त कर लेना ही मुख्य महात्म्य है। मानव जीवन का चरम लक्ष्य है।

''संस्कृति'' की परिभाषाएँ अनेक हैं और विद्वानों ने भिन्न–भिन्न रूपों में इसकी व्याख्याएँ की हैं। कारण, यह विकास एक रूप नहीं, विभिन्न रूपों की ऐसी समन्वयात्मक समष्टि है, जिसमें एक रूप स्वतः पूर्ण होकर भी अपनी सार्थकता के लिए दूसरे का सापेक्ष है। ''किसी मनुष्य समूह के साहित्य, कला, दर्शन आदि में संचित ज्ञान और भाव का ऐश्वर्य ही उसकी संस्कृति का परिचायक नहीं, उस समूह के प्रत्येक व्यक्ति का साधारण शिष्टाचार भी उसका परिचय देने में समर्थ हैं, क्योंकि संस्कृति जीवन के बाह्य और आंतरिक संस्कार का क्रम ही तो है और इस दृष्टि से उसे जीवन को सब ओर से

स्पर्श करना होगा।'

''संस्कृति जीवन के उन समतोलों का नाम है, जो मनुष्य के अंदर व्यवहार, ज्ञान और विवेक पैदा करते हैं। वह उनके सामाजिक व्यवहारों को निश्चित करती और उनकी संस्थाओं को चलाती है, वह उनके जीवन के आदर्श, उनके जीवन के सिद्धांतों को प्रकाश देती है। वह समाज के भावात्मक और आदर्श विचारों के बीच निहित होती है, जो समाज और व्यक्ति को महत्व देते हैं। समतोलों को स्वीकार कर जब समाज सहस्त्रों वर्ष तक चलता है, तब संस्कृति महान रूप लेती है। वह साध्य नहीं साधक है। वह जीवन का उद्देश्य और जीवन का लक्ष्य है।'

मनुष्य वृत्तियाँ अपने विकास में जितनी ही सूक्ष्म हो पाई हैं, उतना ही वह संस्कृत हो पाया है। मनुष्य पशुता से तीन बातों में ऊँचा है। १–विचारशक्ति, २–सौंदर्य, प्रेम, और, ३–नैतिक भावना में। इसलिए वृत्तियों की सूक्ष्मता मनुष्य को बहुत ऊँचा और संस्कृत बनाती है।

भीष्मसाहनी

''किसी भी व्यक्ति का सांस्कृतिक महत्व इस बात पर निर्भर है कि उसने अपने अहम से अपने को कितना बंधन–मुक्त कर लिया है। वह व्यक्ति भी संस्कृत है, जो अपनी आत्मा को माँज कर दूसरे के उपकार के लिए उसे नम्र और विनीत बनाता है। जितना–जितना व्यक्ति मन, कर्म, वचन से दूसरों के प्रति उपकार की भावनाओं और विचारों को प्रधानता देगा, उसी अनुपात में समाज में उसका सांस्कृतिक महत्व बढ़ेगा। दूसरों के प्रति की गई भलाई अथवा बुराई को ध्यान में रखकर ही हम किसी व्यक्ति को भला–बुरा कहते हैं। सामाजिक सद्गुण ही, जिनमें दूसरों के प्रति अपने कर्त्तव्य पालन या परोपकार की

भावना प्रमुख है, व्यक्ति की संस्कृति को प्रौढ़ बनाती है।'

(अल्वर्ट आइन्सटाइन)

संस्कृति क्या है? शब्दकोश उलटने पर इसकी अनेक परिभाषाएँ मिलती हैं। एक बड़े लेखक का कहना है—''संसार में जो सर्वोत्तम बातें जानी या कही गई हैं, उनसे अपने आप को परिचित करना संस्कृति है।' एक दूसरी परिभाषा में यह कहा गया है—''संस्कृति शारीरिक या मानसिक शक्तियों का प्रशिक्षण, दृढ़ीकरण या विकास अथवा उससे उत्पन्न अवस्था है। यह मन, आचार अथवा रूचियों की परिष्कृति या शुद्धि है। यह सभ्यता का भीतर से प्रकाशित हो उठना है।' इस अर्थ में, संस्कृति के कुछ राष्ट्रीय पहलू भी होते हैं।

पं. जवाहर लाल नेहरू

कहने का तात्पर्य यह है कि निष्काम भाव से मनुष्य की पूर्णता के लिए सतत प्रयत्न ही संस्कृति है। हमारे अच्छे बुरे कार्य और शुभ–अशुभ विचार–व्यवहार हमारी सभ्यता बताते हैं। ये ही सामूहिक रूप से किसी देश या जाति की संस्कृति है। इस प्रकार संस्कृति सभ्यता का परिणाम है और दूसरी ओर सभ्यता प्रत्येक देश, समाज की संस्कृति का व्यावहारिक रूप है। संस्कृति के चार पहलू हैं–शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक। संस्कृति का उद्देश्य जीवन के इन चारों पहलुओं को समान रूप से विकसित करना, पूर्णता के लिए प्रयत्न करना है। प्राचीन तत्त्वदर्शी ऋषियों ने जिन सूक्ष्म आधारों पर सुख–शांति प्राप्ति का मार्ग दिखाया, उसे संस्कृति के अंतर्गत रखा जाता है। इस निष्कर्ष और आधार को लाखों वर्षों तक विभिन्न प्रकार से, विभिन्न स्थानों पर आजमाया गया और अंततः लोगों को इसी नतीजे पर पहुँचना पड़ा कि यह ऋषि प्रणीत विचार–पद्धति और कार्य–प्रणाली ही एक मात्र ऐसी पद्धति है, जिसे

अपनाकर मनुष्य स्वयं सुख–शांति से रह सकते हैं और अपने संपर्क में आने वाले अन्यों की सुख–शांति में भी वृद्धि कर सकते हैं। इस प्रकार जीवन की विभिन्न समस्याओं पर अमुक दृष्टिकोण के अनुसार विचार करने और जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में अपनाई जाने योग्य कार्य पद्धतियों का नाम संस्कृति रखा गया। यह तत्त्वज्ञान समस्त विश्व के लिए था, चूँकि इसका आविष्कार भारत में हुआ, इसलिए इसका नाम भारतीय संस्कृति रखा गया। भारतीय संस्कृति वस्तुतः किसी संकुचित जाति, देश या संप्रदाय आदि तक ही सीमित नहीं है, मानव मात्र के लिए समान रूप से उपयोगी, कल्याणकारी और आवश्यक विचार–प्रणाली है।

संसार की समस्त संस्कृतियों में भारत की संस्कृति ही प्राचीनतम है। आध्यात्मिक प्रकाश संसार को भारत की देन है। गीता, उपनिषद्, पुराण इत्यादि श्रेष्ठतम मस्तिष्क की उपज हैं। हमारे जीवन का संचालन आध्यात्मिक आधारभूत तत्त्वों पर टिका हुआ है। भारत में खान–पान, सोना बैठना, शौच–स्नान, जन्म–मरण, यात्रा, विवाह, तीज–त्यौहार आदि उत्सवों का निर्माण भी आध्यात्मिक बुनियादों पर है। जीवन का ऐसा कोई भी पहलू नहीं है, जिसमें अध्यात्म का समावेश न हो, या जिस पर पर्याप्त चिंतन या मनन न हुआ हो।

जब तक विश्व में भारतीय संस्कृति का आदर था, उसे लोग धर्म एवं ईश्वरीय आदेश एवं उच्चतम आदर्श मानकर व्यवहार करते थे, तब तक सारे विश्व में परम शांति का साम्राज्य था। घर–घर सुख–शांति विराजती थी, मनुष्य–मनुष्य के बीच अपार स्नेह था। एक दूसरे के लिए व्यक्ति क्या कर सकता है, इसके आदर्श उपस्थित करने के लिए हर एक व्यक्ति प्रतिस्पर्धा करता था, एक दूसरे से आगे बढ़ना चाहता था। ऐसी

स्थिति में धन–धान्य की कमी भी कदापि नहीं हो सकती थी। मनुष्य और समाज हर प्रकार से सुखी, स्वस्थ, दीर्घजीवी, प्रसन्न और संतुष्ट दिखाई देते थे।

भारतीय संस्कृति का अनुसरण करने वाले को भौतिक सुख और आंतरिक शांति का होना सुनिश्चित है–इस तथ्य को हर एक पर प्रयोग करके ऋषियों ने यह दिखा दिया था कि मानव की अभिलाषा, सुख शांति को निश्चित रूप से प्राप्त करने का एक मात्र मार्ग वही है, जिसे संस्कृति कहते हैं। इस संस्कृति को पाकर मानवता धन्य हो गई थी। संसार ने भारतीयों की इस महान देन के प्रति पूर्ण कृतज्ञता प्रकट करते हुए इसका नाम भारत निर्मित विश्व संस्कृति या संक्षेप में ''भारतीय संस्कृति'' रखा। इसकी विजय दुंदुभी विश्व के कोने–कोने में बजी। इसी आधार पर भारत को चक्रवर्ती एवं जगद्गुरु, कहा गया। वास्तव में सामाजिक, आर्थिक, लौकिक, वैयक्तिक, पारलौकिक सभी प्रकार की उन्नति का विधान भारतीय संस्कृति में निहित है।

अध्यात्म

भारतीय संस्कृति मनुष्य मात्र को क्या, संसार के प्राणीमात्र और अखिल ब्रह्मांड तक को भगवान का विराट रूप मानती है। भगवान इस विराट में आत्म–रूप होकर प्रतिष्ठित हैं और विश्व के समस्त जीव जंतु प्राणी स्थावर जंगम उसमें स्थित हैं। जीवन के अंत तक सब में यह भावना समाविष्ट रहे, एक मात्र इसी के लिए योग्यता, बुद्धि, सामर्थ्य के अनुसार अनेक कर्त्तव्य निश्चित हैं। कर्त्तव्यों में विभिन्नता होते हुए भी प्रेरणा में समता है, एक निष्ठा है, एक उद्देश्य है और यह उद्देश्य ''अध्यात्म'' कहलाता है। यह अध्यात्म लादा नहीं गया है, बल्कि प्राकृतिक होने के

कारण स्वाभाविक है। विराट के दो भाग हैं। एक अंतः चैतन्य और दूसरा है बाह्य अंग। बाह्य अंग के समस्त अवयव अपनी–अपनी कार्य दृष्टि से स्वतंत्र सत्ता रखते हैं, कर्त्तव्य भी उनकी उपयोगिता की दृष्टि से प्रत्येक के भिन्न–भिन्न हैं, लेकिन ये सब हैं, उस विराट अंग की रक्षा के लिए, उस अंतःचैतन्य को बनाए रखने के लिए। इस प्रकार अलग होकर और अलग कर्मों में प्रवृत्त होते हुए भी जिस एक चैतन्य के लिए उनकी गति हो रही है, वही हिंदू संस्कृति का मूलाधार है। गति की यह एकता–समरसता विनष्ट न हो, इसीलिए संस्कृति के साथ धर्म जोड़ा गया है और यह योग ऐसा हुआ कि जिसे पृथक नहीं किया जा सकता। यहाँ तक कि दोनों समानार्थक से दिखाई पड़ते हैं।

''धर्म'' शब्द की व्युत्पत्ति से ही विराट की एकात्मता का भाव स्पष्ट हो जाता है। जो वास्तविकता है, उसी को वरण करना धर्म है, वास्तविक है, चैतन्य है, यह नित्य है, अविनाशी है, शाश्वत है। सभी धर्मों में आत्मा के नियत्व को, शाश्वतपन को स्वीकार किया गया है, लेकिन अंगांगों में पृथक दिखाई देते रहने पर भी जो उसमें एकत्व है, उसको सुरक्षित रखने की ओर ध्यान न देने से विविध संप्रदायों की सृष्टि हो पड़ी है। हिंदू धर्म में इस एकता को बनाए रखने, जाग्रत रखने की प्रवृत्ति अभी तक कायम है। यही कारण है कि संसार में नाना संप्रदायों मजहबों की सृष्टि हुई, लेकिन आज उनका नाम ही शेष है, पर हिंदू धर्म अपनी उसी विशालता के साथ जीवित है। हिंदू धर्म वास्तव में मानव–धर्म है। मानव की सत्ता जिसके द्वारा कायम रह सकती है और जिससे वह विश्व चैतन्य के विराट अंग का अंग बना रह सकता है। उसी के लिए इसका आदेश है।

हिंदू धर्म की विशेषता की सबसे बड़ी देन उनकी अपनी विशिष्ट उपासना–पद्धति है। विश्व–आत्मा की उपासना के लिए

उसके साथ कोई एक समय निश्चित नहीं है। उपासना देश और काल में विभाजित नहीं है। उसका तो प्रत्येक क्षण उपासनामय है। वे अपने विश्व चैतन्य को एक क्षण के लिए भी भूलना नहीं चाहते, बल्कि गति–विधि का प्रत्येक भाग इन चैतन्यदेव के लिए ही लगाना चाहते हैं।

उपासना की दृष्टि से विराट पुरूष चार भागों में विभक्त हैं और समय भेद ने उनके चार भाग कर दिए गए हैं। ये दोनों प्रकार के चार भाग हैं, हिंदू संस्कृति में ये वर्ण एवं आश्रमों के नाम से पुकारे जाते हैं। यों समस्त ब्रह्मांड में वर्ण–धर्म और आश्रम पाए जाते हैं, लेकिन हिंदू संस्कृति उन्हें पृथक नहीं रहने देना चाहती। उसकी दृष्टि में उनका अस्तित्व तब ही तक है, जब तक कि विराट पुरूष की रक्षा के लिए उनकी गति–विधि है। दूसरे शब्दों में विश्व–चैतन्य की सामंजस्य स्थापना में अपने को लगाए हुए हैं। अन्य संस्कृतियाँ या धर्मों की गतिविधि विराट के प्रति नहीं है। वे अंग के अंश तक ही सीमित हैं। कोई भी बुद्धि विशिष्ट व्यक्ति इस बात को स्वीकार किए बिना नहीं रह सकता कि समस्त शरीर का ध्यान छोड़कर शरीर के किसी एक ही अंग का ध्यान रखने से शरीर की रक्षा संभव ही नहीं हो सकती। अतः जो लोग चैतन्य को भुलाकर, जिसने कि विराट पुरूष के शरीर को विभिन्न अंगों के द्वारा एक कर रखा है, अलग–अलग अंगों को न सिर्फ भुला देते हैं, बल्कि उनके साथ प्रतिस्पर्धी बनकर उनकी सत्ता ही खो देना चाहते हैं, वे स्वयं भी अपनी सत्ता कैसे स्थिर रख सकते हैं।

इसीलिए हिंदू संस्कृति में इस स्पर्द्धा से बचने के लिए जीवन के आरंभ काल में प्रत्येक को स्वरूप ज्ञान करने का आदेश है। चिन्मय सत्ता के साथ, विराट के साथ व्यक्ति को जोड़ने वाली इस कड़ी का नाम ब्रह्मचर्याश्रम है।

''ब्रह्मचर्याश्रम'' इस नाम से ही ध्वनित होता है कि यह मानव की वह स्थिति है, जिसमें कि ब्रह्म में, विराट पुरूष में, विश्वात्मा में भ्रमण करना, उसके प्रति अपने को समर्पित करना सिखाया जाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र नाम से जिन चारों वर्णों को व्यवहृत किया जाता है, उनका विभेद उनकी कार्यक्षमता की दृष्टि से ही किया गया है और फिर इन्हीं में अंतर्भाव हो जाता है। ब्रह्मचर्याश्रम इन चारों को ही ब्रह्म में वरण करने की विद्या सिखाता है।

शरीर के मुख, बाहु, उरू, पाद का काम अपने लिए नहीं है, समस्त शरीर के लिए है, उसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र का काम अपने लिए नहीं विराट पुरूष के लिए है। इस दृष्टि को अंत तक बनाए रखने की शिक्षा ब्रह्मचर्याश्रम में दी जाती है। तब दूसरी अवस्था आती है। यह गृहस्थाश्रम है। यह आश्रम कर्म प्रधान है, व्यवहार प्रधान है। जो शिक्षा पाई जाती है, उसे जीवन में उतार लेना। इस शिक्षा का क्रियात्मक रूप गृहस्थाश्रम से आरंभ होता है, वानप्रस्थ में इसकी वृद्धि होती है और सन्यास में परिपक्वता आती है।

इस प्रकार शरीर में रहकर और शरीर रक्षा के लिए ही अपना रक्षण और अस्तित्व बनाए रखकर शरीर के प्रति आत्मोत्सर्ग कर देना शरीरांगों का काम है। विश्वात्मा के लिए उसी प्रकार अपना अस्तित्व रखकर कार्य करते हुए उत्सर्ग कर देना वर्ण–धर्म का उद्देश्य है। चैतन्य शक्ति को क्षण भर भी न भुलाने वाली यह हिंदू संस्कृति हमेशा आत्मा की ओर ही अभिमुख रहती है और इस प्रकार अभिमुख रहना ही हिंदू धर्म को बचाए रहने का एकमात्र साधन है।

हिंदू धर्म अध्यात्म प्रधान रहा है। आध्यात्मिक जीवन उसका प्राण है। अध्यात्म के प्रति उत्सर्ग करना ही सर्वोपरि नहीं

है, बल्कि पूर्ण शक्ति का उद्‌भव और उत्सर्ग दोनों की आध्यात्मिक जीवन की आवश्यकता है। कर्म करना और कर्म को चैतन्य के साथ मिला देना ही यज्ञमय जीवन है। यह ज्ञान जिस संस्कृति का आधार होगा, वह संस्कृति और संस्कृति को मानने वाली जाति हमेशा अमर रहेगी। हिंदू जाति कभी भी धन के पीछे नहीं पड़ी। ऐश्वर्य, यश, प्रतिष्ठा, धन इत्यादि सब कुछ इन्हें विपुलता से प्राप्त हुआ। यह धन शायद अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा कहीं अधिक था, पर भारतीय संस्कृति का आधार अर्थ, लाभ, धन, विलास कभी नहीं रहा है। युगों तक भारत शक्तिशाली बना रहा, पर तो भी शक्ति उसका आदर्श कभी नहीं बना। अपनी शक्ति का कभी दुरूपयोग नहीं किया। साम्राज्य बढ़ाने, दूसरों का दमन करने, हिंसा मारकाट या पद–लोलुपता का भारत कभी शिकार नहीं बना। धन और पाशविक शक्ति कभी भी उसकी प्रेरक शक्तियाँ नहीं बन सकीं।

यही एक ऐसी संस्कृति रही है, जिसने जीवन के ऊपरी स्तर की चिंता कभी नहीं की। बाहरी तड़क–भड़क में उसका कभी भी विश्वास नहीं रहा है। यह सांसारिक जीवन सत्य नहीं है। सत्य तो परमात्मा है, हमारे अंदर बैठी हुई साक्षात ईश्वर स्वरूप आत्मा है, वास्तविक उन्नति तो आत्मिक उन्नति है। इसी उन्नति की ओर हमारी प्रवृत्ति बढ़े, इसी में हमारा दुःख–सुख हो, यही हमारा लक्ष्य रहा है। अपने ह्रास के इतिहास में भी भारत ने अपनी संस्कृति, अपने धर्म, अपने ऊँचे आदर्शों को प्रथम स्थान दिया है, हिंदू का खाना धार्मिक, पीना धार्मिक, उसकी नींद धार्मिक, उसकी वेश–भूषा धार्मिक, उसके विवाह, मृत्यु आदि धार्मिक अर्थात सर्वत्र ईश्वर, आत्मा और धर्म की प्रेरणा रही है। यही इस देश और जाति की सजीवता का एक मात्र कारण है।

एकता

क्या कारण था कि नाना पाश्चात्य राष्ट्र भारत की कीर्ति, अतुल पराक्रम और समृद्धि की गाथाएँ सुन–सुन कर यहाँ आया करते थे? भारत की प्रशंसा सभी विदेशी यात्री किया करते थे? इसे भूतल का स्वर्ग कहा जाता था।

कारण यह है कि भारतीय संस्कृति ने इस देश को एकता के सूत्र में बाँध रखा था। भारतीय जन परस्पर एक दूसरे से भ्रातृभाव, प्रेम, सौहार्द, सहानुभूति की रज्जुओं से बँधे हुए थे, विदेशी सत्ता का यह साहस न होता था कि आक्रमण कर बैठे। अनेक विदेशी आए और उस एकता की चोट खाकर वापस लौटे। मुसलमान तथा अंग्रेज शासकों ने भारतीय एकता को, हमारे संगठन को नष्ट किया और भेदभाव उत्पन्न कर हमें गुलाम बनाया। आज हम पाश्चात्य देशों से शासन व्यवस्था की शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं, किंतु हमें मालूम नहीं कि स्वयं हमारी संस्कृति में एकता और समाजवाद की वह धाराएँ भरी पड़ी हैं, जिनसे हमारा राष्ट्र अब भी संसार का मार्गदर्शक हो सकता है।

इस संबंध में आचार्य श्री नरेंद्रदेव शास्त्री के बहुमूल्य विचार यहाँ उद्धृत किए जाते हैं, जो मानवनीय हैं। शास्त्री जी लिखते हैं–

''हमारे प्राचीन भारत का सूत्र अब भी विद्यमान है, वह है अपनी संस्कृति। इस संस्कृति का संबंध हमारे धर्म से है। नाना विचारधाराएँ, नाना पंथों के रहते हुए भी हमारे पूर्वज एकता में अनेकता और अनेकता में एकता को देखने का पाठ पढ़ा गए हैं। भारतीय संस्कृति के प्रचार, प्रसार द्वारा उन्हीं सूत्रों को दृढ़ करने की आवश्यकता है। ''संस्कृति'' कहिए या ''संस्कार'' कहिए, है एक ही बात। अनेक परंपरागत संस्कारों से ही किसी

जाति समुदाय, देश, राज्य की संस्कृति बनती है। हमारी एक विशेषता यह रही है कि देश में नाना धर्म, नाना पंथ, नाना विचार रहते हुए भी सब एक सूत्र में बँधे रहे, न बँधे रहते, तो एक सहस्त्र वर्ष की भयंकर दासता, विदेशी विधर्मियों की प्रभुता का सुदीर्घ काल, इसमें यह भारत जीवित ही कैसे रहा? इस पर संसार आश्चर्य करता रह गया। वह इस भारतीय संस्कृति के कारण ही जीवित रहा, विपरीत परिस्थितियों में भी सब कुछ सहता रहा और फिर उभर गया। अब अन्य देशों के लोग यह देख रहे हैं कि भारत जिस पाश्चात्य प्रजातंत्र का प्रयोग कर रहा है, उसमें कहाँ तक सफल हो रहा है। भारत ने स्वतंत्र होकर संसार के ईर्ष्यालु राष्ट्रों में परस्पर शांति, समृद्धि, सौजन्य के हेतु एक भारतीय संस्कृति से ओत–प्रोत सुंदर उपाय बतलाया है। वह रामबाण औषधि है, 'पंचशील' जिसका संसार सेवन करे, तो संसार के राष्ट्रों के समस्त दुःख ही दूर हो जाएँगे। महाभारत के शांति पर्व में 'अमृशंस्य' धर्म के प्रसंग में जो धर्म तत्व कहे हैं, उन्हीं का तो अनुवाद है यह पंचशील–

''आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्''

जो बात, जो व्यवहार स्वयं, अपने आपको नहीं भाता, प्रतिकूल लगता है, उस प्रकार का व्यवहार हम दूसरों से न करें।

हमारे जिस कर्म और पौरूष से दूसरों का हित बिगड़ता है, उन कर्मों और पौरूषों को प्रयत्न से त्याग देना चाहिए।

इस नए युग के नए विचारों में हमको अपनी एकता के लिए नए सूत्रों को टटोलने की आवश्यकता नहीं है। हम अपनी संस्कृति को संभाले रहेंगे तो बने रहेंगे। केवल बने ही नहीं रहेंगे, बल्कि बिगड़े हुओं को सुधारेंगे। जो हमारी संस्कृति है, उसी का उच्छिष्ट संसार में बिखरा पड़ा है।'

महापुरूषों की जननी

भारतीय संस्कृति की एक विशेषता यह है कि यह महापुरूषों को जन्म देती है। इसमें ऐसे आधारभूत तत्वों को प्रोत्साहन दिया गया है, जिनका विकास होने पर ऐसे नर रत्नों का जन्म होता है, जो मानवता के सिरमौर हैं।

इस संस्कृति के ढाँचे में ढले हुए नर–रत्न अपने दिव्य प्रकाश से प्रकाश उत्पन्न करते थे और उसी आकर्षण के कारण विश्व की जनता इन्हें जगद्गुरु, चक्रवर्ती शासक एवं भूसुर–पृथ्वी का देवता मानती थी। भारत स्वर्ग की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ समझा जाता था। अतीत का इतिहास इस तथ्य का मुक्त कंठ से उद्घोष कर रहा है।

भारतीय संस्कृति के प्रभाव से प्रत्येक परिवार में स्वर्ग जैसी शांति एवं सद्भावनाओं का निवास रहता था। पिता–पुत्र के बीच कैसे भव्य और पवित्र संबंध थे, इसका उदाहरण देखना हो तो विमाता की आज्ञा से १४ वर्ष. के लिए वनवास जाने वाले रामचंद्र, अंधे माता–पिता को कंधे पर काँवर पर बिठाकर तीर्थ कराने वाले श्रवणकुमार, पिता के दान पर यमपुर खुशी–खुशी प्रस्थान करने वाले नचिकेता, पिता को संतुष्ट करने के लिए आजीवन ब्रह्मचर्य का व्रत लेने वाले भीष्म पितामह का चरित्र पढ़ लेना चाहिए।

भाई का भाई के प्रति क्या कर्त्तव्य है, उनकी झाँकी राम, लक्ष्मण और भरत का चरित्र पढ़ लेने से सहज ही हो जाती है। कौरवों को जब यक्षों ने बंदी बना लिया था, तो युधिष्ठिर ने भ्रातृ–प्रेम के वशीभूत होकर कटुता होते हुए भी उन्हें छुड़वाया था। पुष्कर के दुर्व्यवहार क़ो भुलाकर नल ने अपने भाई को

क्षमा ही कर दिया। ऐसे भ्रातृ स्नेह के उदाहरण भारत में पग–पग पर मिलते हैं। सच्चे मित्र कैसे होते हैं, इसका उदाहरण कृष्ण ने सुदामा और अर्जुन के साथ अपना कर्त्तव्य पालन करके दिखाया था। कहाँ द्वारिका के राजा कृष्ण और कहाँ रंक सुदामा, लेकिन धन और ऐश्वर्य मित्रता के मार्ग में बाधक न बन सके। प्रेम, सहानुभूति, दया, करूणा, भाई–चारे के सामने धन और ऐश्वर्य न टिक सका।

पति–पत्नी के बीच कैसे आदर्श होने चाहिए, इसके असंख्य उदाहरण भारत में मिलते हैं, जो हमारे यहाँ के पत्नी–व्रती पुरूष और पतिव्रता नारियों ने पग–पग पर उपस्थित किए हैं। सीता, सावित्री, शैव्या, दमयंती, गांधारी, अनुसूया, सुकन्या की कथाएँ भारत में घर–घर में गाई जाती हैं। पर स्त्री को माता एवं पुत्री समझने वाले भी सभी कोई थे। छत्रपति शिवाजी द्वारा यवन कन्या को आदर से सुरक्षित रूप से राजमहल में पहुँचा देना, अर्जुन का उर्वशी को लौटा देना, कच का रूप गर्विता देवयानी का प्रस्ताव अस्वीकार करना, सूपर्णखा का लक्ष्मण द्वारा उपहास जैसे संयम के प्रसंगों की कमी नहीं है। भीष्म, हनुमान जैसे अखंड ब्रह्मचारी भारत में प्रचुर संख्या में मिलते हैं।

अतिथि–सत्कार के लिए मोरध्वज का अपना पुत्र दे देना, भूखे बहेलिए के लिए कबूतर–कबूतरी का अपना शरीर दे देना, दुर्भिक्ष पीड़ित समय में अनेक दिनों से भूखे ब्राह्मण परिवार का अपनी थाली की रोटियाँ चांडाल को दे देना आदि अनेक वृतांत महाभारत में देखे जा सकते हैं। कबूतर जैसे छोटे से पक्षी के लिए राजा शिवि ने अपना माँस काट–काट कर दे दिया था। महारानी कुंती ने ब्राह्मण कुमार के बदले अपने पुत्र भीम को राक्षस का आहार बनने के लिए भेजा था।

अपने स्वार्थ, सुख–साधन, धन, संपदा, संग्रह, ऐश आराम को लात मारकर अपनी आत्मा का कल्याण करने के लिए लोक–सेवक और परमार्थ का जीवन व्यतीत करने में भारतीय व्यक्ति अपने जीवन की सफलता मानते रहे हैं। गौतम बुद्ध अपने राजपाट और सौभाग्य को छोड़ कर हिंसा और अज्ञान में डूबे संसार को दया और आत्म–ज्ञान की शिक्षा देने के लिए निकल पड़े। भगवान महावीर ने लालची और विषयासक्त दुनिया को त्याग और संयम का पाठ पढ़ाने के लिए अपना जीवन उत्सर्ग किया। भागीरथ ने राज सुख को छोड़कर दीर्घकाल तक कठोर तप किया और प्यासी पृथ्वी को तृप्त करने के लिए तरण–तारिणी गंगा का अवतरण कराने का महान कार्य पूरा किया।

हमारे यहाँ अनेक ऐसी महान आत्माएँ हुई हैं, जिन्होंने घूम–घूम कर अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की परवाह न कर आत्म–ज्ञान का प्रचार किया है। नारद जी कुछ घड़ी भी एक स्थान पर न ठहर कर आत्म–ज्ञान का प्रसार करने के लिए हर घड़ी पर्यटन करते रहते थे। व्यास जी ने संसार को धर्म ज्ञान देने के लिए अट्ठारह पुराणों की रचना की। आदि कवि वाल्मीकि ने रामायण जैसे मूल्यवान कल्याणकारी ग्रंथ की रचना करके मानव जाति को कर्त्तव्य पथ पर चलने के लिए अग्रसर किया है। चरक, सुश्रुत, वाणभट्ट, धन्वंतरि जैसे त्यागी निस्पृह ऋषियों ने जीवन भर जड़ी–बूटियों, धातुओं आदि का अन्वेषण करके रोग–ग्रस्त पीड़ितों का त्राण करने के लिए सर्वांगपूर्ण चिकित्सा–शास्त्र का आविर्भाव किया और कभी भी अर्थलाभ या स्वार्थ का कण भी नहीं दिखाया। दिखावट या शेखी–खोरी को अणुमात्र भी पास नहीं आने दिया।

ज्योतिष–विद्या की बड़ी–बड़ी खोजें, आकाश में पाए जाने वाले ग्रह–नक्षत्रों की गतिविधियों और उनका मनुष्य जाति पर जो प्रभाव पड़ता है, उसकी खोज करने वाले हिंदू ऋषि ही थे। सूर्य सिद्धांत, मकरंद, ग्रहलाघव आदि को देखने से आश्चर्य होता है कि उस समय बिना वैज्ञानिक यंत्रों के इस प्रकार की शोध करके संसार को महान ज्ञान देने के लिए उन्हें कितना श्रम करना पड़ा होगा, जिसकी मजदूरी उन्होंने कभी नहीं चाही। देव संस्कृति, देव–तुल्य आचार–विचारों की पद्धति ही इनका कारण थी। इस पद्धति के अनुसार जीवन का निर्माण करने का अर्थ निश्चित रूप से यह रहा है कि मनुष्य भौतिक सुख–संपदाओं की अपेक्षा आध्यात्मिक सद्गुणों, सद्विचारों, सद्कार्यों को अधिक महत्व दे तथा संसार के क्षुद्र स्वार्थों का ध्यान न रखे।

इस संस्कृति ने ऐसे अनेक महान ऋषि–मुनि उत्पन्न किए हैं, जिन्होंने विश्व तथा मानव की सेवा में ही अपना जीवन दान दिया था। विश्वामित्र, वशिष्ठ, जमदग्नि, कश्यप, भारद्वाज, कपिल, कणादि, गौतम, जैमिनी, पाराशर, याज्ञवल्क्य, शंख, कात्यायन, गाभिल, पिप्पलाद, शुकदेव, शृंगी, लोमेश,धौम्य जयत्कारू, वैशंपायन आदि भारतीय ऋषियों ने अपने को तिल–तिल जलाकर संसार के लिए वह प्रकाश उत्पन्न किया जिसकी आभा अभी तक बुझ नहीं सकी है। सूत और शौनक निरंतर प्राचीन काल के महापुरूषों की गाथाएँ, विरूदावलियाँ, धर्म चर्चाएँ, सुना–सुनाकर मानव जाति की सुप्त अंतरात्माओं को जगाया करते थे।

यही वह संस्कृति है, जिसके अनुयाइयों ने संसार का हित करने के लिए अपने जीवन की कुछ भी परवाह नहीं की

थी। महर्षि दधीचि ने असुरत्व से देवत्व की रक्षा के लिए अपनी हड्डियाँ ही दान कर दीं थीं। धर्म तथा मर्यादा की रक्षा के लिए वंदा वैरागी खौलते तेल के कढ़ाव में प्रसन्नता पूर्वक कूद पड़ा। वीर हकीकतराय के कत्ल, गुरु बालकों के जीवित दीवारों में चुने जाने की कथाएँ आज भी धर्म–कर्त्तव्य की उपेक्षा करके धन–संग्रह और इंद्रिय भोगों में लगे हुए लोगों पर लानत देती हुई आकाश में विहार कर रही है।

आज अधिकांश पंडित, पुरोहित, साधु, ब्राह्मण आदि संसार को मिथ्या बताते हुए मुफ्त में आनंद मंगल मना रहे हैं। ब्राह्मण का कर्त्तव्य विद्या अर्जन और जनता को सुमति, सदुपदेश देना है, किंतु आज के ब्राह्मण संसार का बौद्धिक स्तर ऊँचा उठाने के लिए कुछ भी श्रम नहीं करते।

भारतीय संस्कृति की परंपरा इस पतित स्थिति से सदा सर्वदा भिन्न रही है। साधुता और ब्राह्मणत्व, आचार्य पंडितों का बहुत ऊँचा आदर्श रहा है।

शंकाराचार्य, कुमारिल भट्ट, सिख धर्म की रक्षा करने और धर्म की रक्षा के लिए अपने को बलिदान करने वाले दस गुरुओं, स्वामी दयानंद सरस्वती, संत ज्ञानेश्वर, संत तुकाराम, समर्थ गुरु रामदास, चैतन्य महाप्रभु, कवि शिरोमणि कबीर, स्वामी विवेकानंद, स्वामी रामतीर्थ आदि असंख्य भारतीय धर्म–गुरु लोकहित के लिए जीवन भर घोर परिश्रम–प्रयत्न और परिभ्रमण करते रहे हैं। यही उनके जीवन की साधना थी। उन्होंने अपना सब कुछ देकर लोक सेवा को एकाकी मुक्ति से अधिक महत्व दिया।

भगवान बुद्ध जब अपनी जीवन–लीला समाप्त करने लगे, तो उनके प्रिय शिष्यों ने कातर हो पूछा–

''आप तो अब मुक्ति के लिए प्रयाण कर रहे हैं। अब हमारा मार्ग–दर्शन कौन करेगा?'' बुद्ध ने उत्तर दिया–''जब तक संसार में एक भी प्राणी बंधन में बंधा हुआ है, तब तक मुझे मुक्ति की कोई कामना नहीं है। मैं मानव मात्र का उत्कर्ष करने के लिए बार–बार जन्म लेता और मरता रहूँगा।'

स्वामी दयानंद सरस्वती भी योग साधना करते हुए हिमालय गए थे। वहाँ इन्हें ईश्वरीय प्रेरणा प्राप्त हुई कि लोक सेवा ही सर्वोत्तम योग–साधना है। स्वामी जी यह लोक–सेवा का उद्‌देश्य लेकर तपस्या से लौट आए और जीवन भर अज्ञानग्रस्त जनता में ज्ञान–प्रचार करने को ही अपनी साधना मानते हुए जीवन समाप्त कर दिया। जनता की सेवा ही उनके जीवन का चरम लक्ष्य रहा।

यह भारतीय संस्कृति ही थी, जिसके प्रभाव के कारण शंकराचार्य और स्वामी दयानंद सेवा करते–करते विषपान कर स्वर्ग सिधारे थे। गाँधी जी भी जीवन भर जनता–जनार्दन की सेवा करते रहे, अपने परिवार तक का मोह उन्हें बाँध न सका। उन्होंने महात्मा शब्द को सार्थक किया। लोकमान्य तिलक और महामना मालवीय जैसे व्यक्तियों का चरित्र ही पंडित शब्द का वास्तविक प्रमाण है।

भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिक ज्ञान के विस्तार के लिए गुरु–शिष्य की प्रशस्त परंपरा रही है। यह भारत की अपनी वस्तु है। गुरु–शिष्य परंपरा का शरीर से संबंध नहीं, आत्मा का संबंध है। साधक का जीव गुरु के जीव का शिष्य बनता है। इसलिए गुरु के शरीर–त्याग के पश्चात भी उसको उनसे निर्बाध प्रेरणा मिलती रहती है। गुरु आत्मरूप है, देह रूप नहीं। भारतीय संस्कृति ने कैसे–कैसे उत्तम गुरु उत्पन्न किए हैं,

यह जानना हो तो, गुरु गोविंद सिंह आदि सिखों के दस गुरुओं का चरित्र पढ़ लेना चाहिए। शिष्य भी तब ऐसे ही होते थे। गुरु के लिए बलिदान करने को सदा सहर्ष तैयार रहते थे। एकलव्य, अरूणि, उद्दालक, धौम्य, नचिकेता आदि भारतीय शिष्यों के चरित्र पढ़ने से ही हमें भारतीय संस्कृति पर सहज गर्व होने लगता है।

भारतीय संस्कृति में पले हुए राजा कैसे होते थे, इसका उदाहरण राजा जनक के जीवन से मिल सकता है। वे प्रजा की सेवा को ही अपने जीवन का महानतम उद्देश्य मानते थे और सच्चे अर्थों में प्रजा के सेवक थे। अपने जीवन–निर्वाह के लिए वे परिश्रम करके स्वयं कमा लेते थे और राजकोष से एक कौड़ी भी अपने लिए नहीं लेते थे। वे राज्य–कार्य और न्याय–व्यवस्था अपना कर्त्तव्य मानकर करते थे और आजीविका के लिए स्वयं खेती करके अन्न उत्पन्न कर लेते थे। संस्कृत में हल की नोंक का नाम ''सीता'' है। इसलिए राजा जनक को खेत जोतते समय जो कन्या प्राप्त हुई उसका नाम भी ''सीता'' रखा गया था।

महर्षि विश्वामित्र को जब यज्ञीय (लोक हितकारी) कार्य के लिए धन की आवश्कता पड़ी, तो राजा हरिश्चंद्र ने समस्त राज–कोष दान कर दिया और जब उनसे भी काम न चला तो अपने तथा अपने स्त्री–बच्चों को बेचकर एक आदर्श राजा का आदर्श उदाहरण उपस्थित किया।

छत्रपति शिवाजी का आदर्श भी यही था। उनके गुरु का नाम समर्थ रामदास था। वे निरंतर उनके आदर्शों पर चलते रहे। यहाँ तक कि एक समय तो ऐसा आया कि उन्होंने अपना सारा राज्य ही गुरु के चरणों में अर्पित कर दिया था और स्वयं

गुरु की आज्ञानुसार एक मुनीम की तरह राज्य का संचालन करते रहे। उसी देख–रेख में मराठा राज्य फला–फूला और पनपता रहा। भयंकर कठिनाइयों में भी उसकी निरंतर उन्नति होती रही।

भरत का उदाहरण खोजे भी संसार में अन्यत्र नहीं मिलेगा, राजा राम की चरण पादुकाओं को ही शासक मानकर स्वयं एक तुच्छ सेवक की भाँति वे चौदह वर्ष तक राज्य संचालन करते रहे। हर प्रकार का अवसर होते हुए और ज्येष्ठ भ्राता के दूर रहने पर भी कभी उन्होंने राज्य को हड़प जाने की कामना नहीं की। यह भारतीय संस्कृति के उच्च संस्कारों का ही प्रताप था।

धौलपुर की राजगद्दी के मालिक नरसिंह भगवान और मेवाड़ की राजगद्दी के मालिक भगवान एकलिंग जी माने जाते थे। इन स्थानों के राजाओं ने कभी स्वयं को अधिपति न माना। केवल अपने आपको राज्य का विनम्र संचालक माना। पीछे यद्यपि यह बात दिखावा मात्र रह गई, पर प्रारंभ में यह त्याग भी उस शृंखला का एक प्रतीक अवश्य था।

राजा विक्रमादित्य प्रजा की वास्तविक स्थिति से परिचय प्राप्त करने के लिए वेश बदल कर प्रजाजनों में घूमता रहता था। प्रजा की सच्ची सेवा, उसके लिए सदा सब कुछ करने को प्रस्तुत रहना, उसकी सुख–सुविधा को बढ़ाना–यही उसका प्रधान लक्ष्य रहा। इसी प्रकार महाराणा प्रताप राज–सुख की परवाह न करके जीवन भर देश को आजाद कराने के लिए स्वाधीनता संग्राम में धर्मयुद्ध करते रहे।

महान राज–पुत्र दुर्गादास राठौर को धर्मयुद्ध में रोटी भी नसीब नहीं हुई। ऐसे अवसर आए जब भूख से तड़प कर घोड़े

पर चढ़े–चढ़े ही भाले की नोंक में छेदकर भुट्टे भूनकर खाते थे और स्वाधीनता संग्राम लड़ते रहते थे, ऐसे सैकड़ों राजा भारत ने उत्पन्न किए। छत्रसाल की गाथा सर्वविदित है। ये शासक हमारी संस्कृति के प्रतिनिधि हैं।

राजा ही नहीं, यहाँ के मंत्री भी निस्वार्थ, त्यागी, निर्लेप और कुशाग्र हुए। अपने व्यक्तिगत लाभ की कभी कोई कामना उन्होंने नहीं की। वे सदा निष्पक्ष भाव से सत्य की रक्षा करते रहे। अपराध के प्रति कठोर रहे। चाणक्य का जीवन भारतीय संस्कृति का एक नमूना है। विश्व का वह अभूतपूर्व कुशाग्र बुद्धि कूटनीतिज्ञ एक फूँस की झोंपड़ी में गरीब लोगों की भाँति जीवन व्यतीत करता था और राज्य कोष से अपने व्यक्तिगत व्यय के लिए कुछ भी नहीं लेता था।

हमारे यहाँ के धनवान, लक्ष्मीपति भी सदा लोकहित का ध्यान रखते रहे हैं। जिन जिनके पास धन संपत्ति होती थी, वे उसे सात पीढ़ियों के लिए तिजोरी में बंद नहीं करते थे, वरन् तात्कालिक लोकहित के लिए उसे मुक्तहस्त से दान करते थे। राजा कर्ण जैसी दानशीलता किस देश और किस संस्कृति में मिल सकती है?

भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ

भारतीय संस्कृति के अनुसार व्यक्ति का दृष्टिकोण ऊँचा रहना चाहिए। हमारे यहाँ अंतरात्मा को प्रधानता दी गई है। हिंदू तत्वदर्शियों ने संसार की व्यावहारिक वस्तुओं और व्यक्तिगत जीवन–यापन के ढंग और मूलभूत सिद्धांतों में पारमार्थिक दृष्टिकोण से विचार किया है। क्षुद्र सांसारिक सुखोपभोग से ऊँचा उठकर, वासनामय इंद्रिय संबंधी साधारण

सुखों से ऊपर उठकर आत्मभाव विकसित कर पारमार्थिक रूप से जीवन यापन को प्रधानता दी गई है। नैतिकता की रक्षा को दृष्टि में रखकर हमारे यहाँ मान्यताएँ निर्धारित की गई हैं।

प्राचीन भारतीय तत्वदर्शियों ने हिंदू संस्कृति का सूक्ष्म आधार जिन मान्यताओं पर रखा है, वे संक्षेप में इस प्रकार रखे जा सकते हैं–

निर्मल अंतस्–सुख का आधार

भारतीय ऋषियों ने खोज की थी कि मनुष्य की चिरंतन अभिलाषा, सुख–शांति की उपलब्धि इस बाह्य संसार या प्रकृति की भौतिक सामग्री से वासना या इंद्रियों के विषयों को तृप्त करने से नहीं हो सकती। पार्थिव संसार हमारी तृष्णाओं को बढ़ाने वाला है। एक के बाद एक नई–नई सांसारिक वस्तुओं की इच्छाएँ और तृष्णाएँ निरंतर उत्पन्न होती रहती हैं। एक वासना पूरी नहीं हो पाती कि नई वासना उत्पन्न हो जाती है। मनुष्य अपार धन संग्रह करता है, अनियंत्रित काम–क्रीड़ा में सुख ढूँढता है, लूट–खसोट और स्वार्थ साधन से दूसरों को ठगता है। धोखाधड़ी, छलप्रपंच, नाना प्रकार के षडयंत्र करता है, विलासिता, ईर्ष्या–द्वेष में प्रवृत्त होता है, पर स्थाई सुख और आनंद नहीं पाता। एक प्रकार की मृगतृष्णा मात्र में जीवन नष्ट कर देता है। उलटे उसकी दुष्ट वृत्तियाँ और भी उत्तेजित हो उठती हैं। जितना–जितना मनुष्य सुख को संसार की बाहरी वस्तुओं में मानता है, उतना ही व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन अतृप्त, कंटकाकीर्ण, दुःखी, असंतुष्ट और उलझन भरा होता है। हिंदू तत्त्वेत्ताओं ने इस त्रुटि को देखकर ही यह निष्कर्ष निकाला था कि स्वार्थपरता और सांसारिक भोग कदापि स्थाई आनंद नहीं दे सकते। हमारे स्थाई सुखों का केंद्र भौतिक सुख

सामग्री न होकर आंतरिक श्रेष्ठता है। आंतरिक शुद्धि के लिए हमारे यहाँ नाना विधाओं का क्रम रखा गया है। त्याग, बलिदान, संयम वे उपाय हैं, जिनसे आंतरिक शुद्धि में प्रचुर सहायता मिलती है।

स्वयं पर नियंत्रण, सर्वत्र उदारता

भारतीय संस्कृति में अपने ऊपर कठोर नियंत्रण का विधान है। जो व्यक्ति अपनी वासनाओं और इंद्रियों को नियंत्रण में रख सकता है, जिससे स्वयं अपनी शारीरिक, इच्छाएँ, वासनाएँ, आदतें ही नहीं संभलती, वह क्या तो अपना हित और क्या लोकहित करेगा?

''हरन्ति दोषजानानि नरमिन्द्रियकिङ्करम्।''

(महाभारत अनु.प.५१,१६)

''जो मनुष्य इंद्रियों (और अपने मनोविचारों) का दास है, उसे दोष अपनी ओर खींच लेते हैं।''

''बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वंसमपि कर्षति।''

''इंद्रियाँ बहुत बलवान हैं। ये विद्वान को भी अपनी ओर बलात् खींच लेती हैं।''

अतः भारतीय संस्कृति ने सदा अपने साथ कड़ाई के व्यवहार की स्थापना की है। यदि हम अपनी कुप्रवृत्तियों को नियंत्रित न करेंगे, तो हमारी समस्त शक्तियों का अपव्यय हो जाएगा। आदर्श भारतीय वह है, जो दम, दान एवं यम इन तीनों का पालन करता है। इन तीनों में भी विशेषतः दम (अर्थात् इंद्रिय दमन) भारतीय तत्त्वदर्शी पुरूषों का सनातन धर्म है। इंद्रिय–दमन आत्मतेज और पुरूषार्थ को बढ़ाने वाला है। दम तेज को बढ़ाता है। दम परम पवित्र और उत्तम है। अपनी शक्तियाँ

बढ़ाकर दम से पुरूष पाप रहित एवं तेजस्वी होता है। संसार में जो कुछ नियम, शुभ कर्म अथवा संपूर्ण यज्ञों के फल हैं, उन सब की अपेक्षा दम का महत्व अधिक है। दम के बिना दान रूपी क्रिया की यथावत शुद्धि नहीं हो सकती। अतः दम से ही यज्ञ और दम से ही दान की प्रवृत्ति होती है।

जिस व्यक्ति ने इंद्रिय दमन और मनोनिग्रह द्वारा अपने को वश में नहीं किया है, उसके वैराग्य धारण कर वन में रहने से क्या लाभ, तथा जिसने मन और इंद्रियों का भली–भाँति दमन किया है, उसको घर छोड़कर किसी जंगल या आश्रम में रहने की क्या जरूरत?

जितेंद्रिय पुरूष जहाँ निवास करता है, उसके लिए वही स्थान वन एवं महान आश्रम है। जो उत्तम शील और आचरण में रत है, जिसने अपनी इंद्रियों को काबू में कर लिया है तथा जो सरल भाव से रहता है, उसको आश्रमों से क्या प्रयोजन। विषयासक्त मनुष्यों से वन में भी दोष बन जाते हैं तथा घर में रह कर भी पाँचों इंद्रियों पर नियंत्रण प्राप्त कर लिया जाए, तो वही तपस्या है।

जो सदा शुभ कर्म में प्रवृत्त होता है, उस वीतराग पुरूष के लिए घर ही तपोवन है। जो एकांत में रहकर दृढ़ता पूर्वक नियमों का पालन करता है, इंद्रियों की आसक्ति से दूर हटता है, अध्यात्म तत्व के चिंतन में लगता है, वही भारतीय संस्कृति का फूल है।

एक ओर जहाँ भारतीय संस्कृति इंद्रिय संयम पर उपदेश देती है, वहीं दूसरी ओर वह दूसरों के प्रति अधिक से अधिक उदार होने का आग्रह करती है। सच्चे भारतीय को दूसरों की सेवा, सहयोग और सहायता के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए।

''सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्वज्ञान तु दुष्करम्।
यद्भूतहितमत्यन्तम् एतत सत्यं ब्रवीम्यहम्॥''

''दूसरों की निंदा से अपनी उन्नति को कभी न देखे। अपने सद्गुणों से ही दूसरे मनुष्यों की जो उन्नति चाहे वही सच्चा भारतीय है। भारतीय संस्कृति के उपासक सदा निर्बलों, अपनी शरण में आए हुए एवं अतिथियों के सहायक होते हैं।'

भारत में सदा दूसरों के साथ उदारता का व्यवहार रहा है। जो लोग बाहर से मारने के लिए आए, जिन्होंने विष दिया, जिन्होंने आग में जलाया, जिन्होंने हाथियों से रौंदवाया और जिन्होंने साँपों से डसवाया, उन सब के प्रति भी भारतीय संस्कृति उदार रही है। मित्र भाव से सद्व्यवहार करती रही है। हमने सबमें भगवान को देखा है। हाथी में विष्णु, सर्प में विष्णु, जल में विष्णु और अग्नि में भी भगवान विष्णु को देखा है, तो फिर पशुओं और मनुष्यों की बहुत ही ऊँची बात है। हम मनुष्य मात्र को प्यार करने वाले उदार जाति के रहे हैं।

सर्वत्र परमात्म दर्शन

अंतरात्मा में छिपे हुए प्यार और सद्भाव को दूसरों के साथ अधिकाधिक विकसित एवं चरितार्थ करना हमारी संस्कृति का तत्त्व है।

भारतीय संस्कृति अंतरात्मा में सन्निहित सद्भावों के विकास पर अधिक जोर देती है। ''शीलं हि शरणं सौम्य''(अश्वघोष) सत् स्वभाव ही मनुष्य का रक्षक है। उसी से अच्छे समाज और अच्छे नागरिक का निर्माण होता है। हमारे यहाँ कहा गया है–

''तीर्थानां हृदयं तीर्थं शुचीनां हृदयं शुचिः''

म.भा.शा.प. १९१–१८

''सब तीर्थों में हृदय (अंतरात्मा) ही परम तीर्थ है। सब पवित्रताओं में अंतरात्मा की पवित्रता ही मुख्य है।'

हम यह मानकर चलते रहें हैं कि हमारी अंतरात्मा में जीवन और समाज को आगे बढ़ाने और सन्मार्ग पर ले जाने वाले सभी महत्वपूर्ण विचार हैं। कारण, हमारी आत्मा में साक्षात् भगवान का निवास होता है। जिस प्रकार मकड़ी तारों के ऊपर की ओर जाती है तथा जैसे अग्नि अनेक शुद्ध चिनगारियाँ उड़ाती है, उसी प्रकार इस आत्मा से समस्त देवगण और समस्त प्राणी मार्गदर्शन और शुभ संदेश पाते हैं। सत्य तो यह है कि आत्मा ही उपदेशक है।

शास्ता विष्णुरशेसस्य जगतो यो हृदि स्थितः।
नमृते परमात्मानं तात कः केन शास्यते॥
विष्णु १।१७।२०

''हृदय में स्थित भगवान विष्णु ही तो संपूर्ण जगत के उपदेशक हैं। उन परमात्मा को छोड़कर और कौन किसी को कुछ सिखा सकता है?''

भारतीय संस्कृति दूसरों के प्रति उदारता का व्यवहार करने पर जोर देती है। हम मनुष्यों की पूजा करें। मनुष्य को मनुष्य नहीं ईश्वर रूप मानें, सभी को ईश्वर रूप, परमात्मा रूप समझें और इस प्रकार मनुष्य की उपासना करें, तो यह ईश्वर की ही उपासना होगी। जो कोई हमारे पास आए, ईश्वर समझकर हमें उसका स्वागत करना चाहिए। अपने अंदर से हमें अमृत का प्रवाह बहाना चाहिए, जिससे दूसरे भी अपने व्यक्तित्व को अधिकाधिक विकसित करें।

वसुधैव कुटुंबकम्

भारतीय संस्कृति ने विश्वहित को बड़ा महत्व दिया है।

अपनी निजी व्यक्तिगत आवश्यकताएँ घटाते रहना और समय, शक्ति तथा योग्यता का अधिकांश भाग विश्वहित में लगाना हमारा आदर्श रहा है। कम से कम खा–पहन कर अधिक से अधिक सेवा करना, स्वाद के लोभ से भोजन न खाना और विलास तथा दिखावे के लोभ से विलासिता के वस्त्र न पहनना हमारे देश की परिपाटी रही है। भोजन इसलिए किया जाता है कि शरीर स्वस्थ रहे और उस शरीर से अधिक से अधिक विश्व की सेवा की जाती रहे। भारतीय संस्कृति के पुजारी को यह इष्ट है कि उसके वस्त्र स्वच्छ हों और उनमें किसी प्रकार का दिखावटीपन न हो। वह कम से कम सोए और सांसारिक दिखावे से अपने को दूर रखे। बिना पूर्ण त्याग के विश्वहित हो ही नहीं सकता।

हमारे गृहस्थ भी ऐसे–ऐसे हुए हैं, जो पूरे राज्य का संचालन करते हुए उनसे सर्वथा अनासक्त रहे हैं। अपने शरीर का भी मोह नहीं किया। महाराजा जनक तो इसीलिए विदेह कहे जाते थे कि उन्हें यह ज्ञान हीं नहीं था कि उनका शरीर भी है। विरक्त शिरोमणि श्री शुकदेव भी जिन्हें गुरु बनाकर ज्ञानोपदेश लेने गए, उस परम ज्ञानी के संबंध में क्या कहा जाए? तुलाधर वैश्य थे। अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताएँ घटाकर वे सदा ग्राहक का हित देखते रहे। धर्म व्याध शूद्र थे। उनके त्याग के सामने ब्राह्मण भी नत् हो जाते थे। महर्षि याज्ञवल्क्य ने एक कोपीन और जलपात्र के अतिरिक्त कभी कुछ न रखा था। श्री शुकदेव, श्री शंकराचार्य जी जैसे विरक्त संत निरंतर लोकहित के कार्य करते रहे हैं। इसी प्रकार के अनेक ज्ञानियों ने निष्काम भाव से परोपकार और प्राणीमात्र की सेवा को अपने जीवन का ध्येय बनाया है।

भारतीय संस्कृति कहती है 'हे मनुष्यो! अपने हृदय में

विश्व प्रेम की ज्योति जला दो। सबसे प्रेम करो। अपनी भुजाएँ पसार कर प्राणीमात्र को प्रेम के पाश में बाँध लो। विश्व के कण–कण को अपने प्रेम की सरिता से सींच दो। विश्व प्रेम वह रहस्यमय दिव्य रस है, जो एक हृदय से दूसरे को जोड़ता है। यह एक अलौकिक शक्ति संपन्न जादू भरा मरहम है, जिसे लगाते ही सबके रोग दूर हो जाते हैं। जीना है, तो आदर्श और उद्देश्य के लिए जीना है। जब तक जिओ विश्वहित के लिए जिओ। अपने पिता की संपत्ति को संभालो। यह सब तुम्हारे पिता की है। सबको अपना समझो और अपनी वस्तु की तरह विश्व की समस्त वस्तुओं को अपने प्रेम की छाया में रखो। सबको आत्मभाव और आत्मदृष्टि से देखो।'

ईमानदारी से उपार्जित धन का प्रयोग

भारतीय संस्कृति ने परिश्रम और अनुशासन से प्राप्त ईमानदारी की कमाई पर जोर दिया है। हम आलस और प्रमाद से बचते रहें, परिश्रम करते रहें, अनुशासन को मजबूती से पकड़े रहें तथा शुद्ध कमाई का उपयोग करते रहें, यह हमारा आदर्श रहे। कहा भी है–

''अपमित्य धान्रू यज्जघसाहमिंद''

अथर्ववेद ६–११७–१

'ऋण लेना एक प्रकार की चोरी है। हम अपनी सात्विक कमाई से अधिक व्यय न करें। पाप की कमाई, जन्म–जन्म तक दुःखरूपी नर्क में पड़े रहने की तैयारी है।'

''रमतां पुण्या लक्ष्मीर्यां: पापीता अपनीशनम्''

अथर्ववेद ७–११५–४

'पुण्य से कमाया हुआ धन ही सुख देता है, जो पाप युक्त

धन है, उसको मैं नाश करने वाला बनूँ।'

भारतीय संस्कृति हमें अपने ऊपर अनुशासन करना सिखाती है। वह अनुशासन पुलिस या फौज की भाँति बाहर से थोपा हुआ न होकर प्रेम, सत्य और नीति का अनुशासन है। न्याय, सत्य और प्रेम–ये सदा सनातन एक से रहने वाले पदार्थ हैं। इनके अनुसार जो बात, उक्ति या मार्ग आज सत्य है, वह सदा सत्य रहने वाला है। किसी अनुचित कामना, इच्छा, वासना, तृष्णा आदि को कभी न बढ़ने देना चाहिए, अन्यथा जीव अधिकाधिक बंधन में बँधता जाता है। इसलिए इस संस्कृति में त्याग और परोपकार का बहुत महत्व है। सच्चे परिश्रम और ईमानदारी से जो कुछ भी प्राप्त हो जाए, उसी पर निर्वाह करने पर जोर दिया गया है।

सर्वेषा मेव शौचनामर्थ शौचं परं स्मृतम्।
थोऽथे शुचिर्हि स शुचिर्थ मृद्धारिशुचिः॥
मनु. ५–१०२

सब शुद्धियों में धन की पवित्रता ही श्रेष्ठ कही गई है, क्योंकि जिसकी कमाई शुद्ध है, वह व्यक्ति धन की दृष्टि से शुद्ध कहा जा सकता है। मिट्टी या जल की शुद्धि, शुद्धि नहीं कही जाती। तात्पर्य यह है कि जो पराया धन नहीं हरता और न्याय से धन उपार्जन करता है, वह शुद्ध है और जो अन्याय से द्रव्य हरता है, किंतु मिट्टी लगाकर स्नान करता है, वह पवित्र नहीं है।

हमारे यहाँ कहा गया है–

प्रपतेत पापि लश्रिय
अथर्व. ७–११५–१

अर्थात् "पाप की कमाई छोड़ दो। पसीने की कमाई से ही मनुष्य सुखी बनता है।'

देवः वार्य बनते

"धन उन्हीं के पास ठहरता है, जो सद्‌गुणी होते हैं। दुर्गुणी व्यक्ति की विपुल संपदा भी स्वल्प काल में नष्ट हो जाती है।'

रयिं दानाय चोदव

अथर्व. ३।२।५

"दान देने के लिए धन कमाओ। संग्रह करने या विलासिता के लिए धन नहीं है।'

अपने को एकाकी नहीं विश्व मानव की महान मशीन का एक पुर्जा मानना और अपने स्वार्थ को विश्वस्वार्थ (परमार्थ) में भुला देना।

भारतीय संस्कृति में यह विशेषता है कि वैयक्तिक जीवन की चरितार्थता का विश्व के समष्टिगत जीवन की चरितार्थता के साथ कोई विरोध नहीं है। हम यह मानते आए हैं कि पूरे विश्व में हमारा ही प्राण बिखरा पड़ा है। सब में एक ही आत्मा समष्टि रूप में फैला हुआ है। वहाँ सब समान हैं। एक ही विराट मशीन के छोटे–बड़े कल पुर्जे हैं। अतएव सबको समान ही समझना चाहिए। हिंदू मानता है कि वह शरीर नहीं, आत्मा है। महान आत्मा का एक अंश। जब हम आत्मावाद में इतना अधिक विश्वास करते हैं, तो स्वभावतः भौतिकवाद को केवल उतना ही महत्व देना उचित है, जितना वह अनिवार्यतः आवश्यक है।

एक ही प्राण सब में व्याप्त है। एक ही विराट आत्मा का सर्वत्र प्रकाश है, एक ही सूर्य का प्रतिबिंब सर्वत्र जगमगा रहा है। संपूर्ण समाज एक बड़ा शरीर है और हम सब उसके अंग मात्र हैं। नर–नारायण, जनता–जनार्दन, विराट–पुरुष आदि भारतीय संस्कृति के शब्दों में यही भाव भरा हुआ है। हम आत्मीयता के पुजारी हैं। आत्मीयता हमसे आग्रह करती है कि हम अपने स्वार्थ को विश्व स्वार्थ या परमार्थ में लय कर दें। प्रेम का दायरा खूब

बढ़ा दें। यही भारतीय संस्कृति का संदेश है।

भारतीय शास्त्र कहते हैं कि मनुष्य जीवन में परोपकार ही सार है। अपने स्वार्थ को छोड़कर हमें सदैव परोपकार में रत रहना चाहिए। परोपकार करके भूल जाना ही उचित है। मेरे कारण दूसरों का भला हुआ है, यह सोचना मूर्खता है। हमारे बिना संसार का कोई काम अटका रहेगा। हमारे पैदा होने से पूर्व संसार का काम ठीक चल रहा था और बाद में भी वैसा ही चलता रहेगा। परमात्मा इतना गरीब नहीं है कि हमारी सहायता बिना कार्य ही न चला सके। अतः जितना हमें उपकार करने का अवसर मिले, उतना ही कृतज्ञ होना चाहिए। हमारी उपकार बुद्धि को जागृत करके ईश्वर हमें ऋणी कर देता है, इससे हमारी मानसिक उन्नति होती है और आत्मा को शक्ति प्राप्त होती है।

समन्वय–सहिष्णुता

सहिष्णुता भारतीय संस्कृति की एक विभूति है। हम दूसरों की परिस्थितियों को समझते हुए और विचारभिन्नता होते हुए भी सहिष्णु हैं। समस्त जीवों के प्रति उदार हैं। सभी मनुष्यों को अपने समान समझते हैं और उनके प्रति प्रेम–भाव रखते हैं, तदनुसार अपने कार्य करते हैं–यह विचार हमारी संस्कृति में सच्चे रूप में पाया जाता है।

समाज में कुछ नीची, अछूत, संकर जातियाँ भी हैं। विकृति के कारण विविध जातियाँ उत्पन्न हुई हैं। वर्णसंकर को दोष मानते हुए भी हमारे यहाँ यह विधान है कि वे अपने–अपने ढंग से अपने–अपने धर्म में रहकर अपना–अपना धंधा करती रहें, तो वह किसी प्रकार निंद्य नहीं हैं। भोजन के समय भी यदि

कोई चांडाल अतिथि रूप में आए, तो उसका भी भोजन इत्यादि से सत्कार करने का हमारे यहाँ विधान है।

इस संस्कृति में बीज शुद्धि का विचार विशेष होने से अपने–अपने वर्ण में विवाह करना उचित माना गया है। उच्च वर्णों में उच्च संस्कार भरे हुए हैं। यदि उच्च वर्णों में ही विवाह इत्यादि संबंध करेंगे, तो बीज शुद्ध बना रहेगा। बीज में खराबी नहीं आनी चाहिए अन्यथा सारा समाज ही अपने संस्कारों को दूषित कर लेगा। इसीलिए स्त्रियों में बीज शौच का महत्व है। हमारे यहाँ कहा गया है–

गोप्यः स्वायां मनीवृत्तिर्नासहिष्णुर्नरो भवेत्।
स्थिति मज्यस्य वै वीक्ष्य तदनुरूप माचरेत्॥

अर्थात्, अपने मनोभावों को छिपाना नहीं चाहिए। मनुष्य को असहिष्णु नहीं होना चाहिए। सदा सर्वदा दूसरों की परिस्थिति का ध्यान रखना चाहिए।

भारतीय संस्कृति में संकुचितता नहीं है। वह यह स्वीकार करती है कि प्रत्येक मनुष्य का दृष्टिकोण, विचार, अनुभव, अभ्यास, ज्ञान, स्वार्थ, रुचि एवं संस्कार अलग–अलग होते हैं। इसलिए हर व्यक्ति को दूसरों के प्रति उदार होना चाहिए। अपने से किसी भी बात में मतभेद रखने वाले को अज्ञानी मान लेना उचित नहीं है। ऐसी असहिष्णुता ही बहुधा झगड़ों की जड़ होती है। एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझकर समझौते के मार्ग से चलना उचित माना है।

सर्वत्र स्वच्छता

शौच हमारे यहाँ महत्त्वपूर्ण तत्व है। हमारे यहाँ इस स्वच्छता की शिक्षा प्रारंभ से ही ऋषि–मुनियों के आश्रमों में

ब्रह्मचर्य साधन और विद्याध्ययन के साथ दी जाती रही है। प्रत्येक हिंदू का कर्त्तव्य है कि वह स्वयं स्वच्छ रहे, अपने घर को, वस्तुओं तथा वातावरण को स्वच्छ रखे। वस्त्र स्वच्छ पहने, स्वच्छ वस्त्रों से भोजन पकाए और स्वच्छ चौके में बैठ कर भोजन करे। हर प्रकार से स्वच्छता और संयम पर जोर दिया गया है।

शौच का अर्थ केवल बाहरी सफाई नहीं है, प्रस्तुत आंतरिक स्वच्छता पर ही सदा हमारा ध्यान रहा है। पाप की भावनाएँ, विषय भोग की दूषित भावनाओं से मन को गंदा नहीं करना भी इसी में सम्मिलित है, आंतरिक जीवन में शुचिता का होनी चाहिए। अंतर–शौच, बीज–शौच, और अर्थ शौच इत्यादि नाना रूपों में आंतरिक स्वच्छता बनाए रखने की गंभीर व्यवस्था भारतीय संस्कृति में निहित है।

बसताँ ना पवित्रः सन् वाह्मयतोम्यन्तरस्तस्था।
यतः पवित्रतायां हि राजतेऽति प्रसन्नता॥

अर्थात् 'मनुष्य को बाहर और भीतर से पवित्र रहना चाहिए, क्योंकि पवित्रता में ही प्रसन्नता रहती है।'

पवित्रता में चरित्र की प्रसन्नता, शीलता, शांति, निश्चितता, प्रतिष्ठा और सफाई छिपी रहती है। कूड़ा–करकट, मैल, विकार, पाप, गंदगी, दुर्गंध, सड़न, अव्यवस्था एवं घिच–पिच से मनुष्य की आंतरिक निकृष्टता प्रतीत होती है। भारतीय संस्कृति सर्वत्र स्वच्छता पर जोर देती है। यह सत्य भी है कि आलस्य और दारिद्र्य में मलीनता रहती है। जो मलीन प्रकृति के हैं, उनके वस्त्र, सामान, शरीर, मन आदि सब गंदगी और अव्यवस्था से भरे रहते हैं। इसके विपरीत हिंदू संस्कृति सर्वत्र स्वच्छता चाहती है। हिंदुओं में सर्वत्र चैतन्यता, जागरूकता, सुरुचि, सात्विकता पाई जाती है। स्वच्छता एक आध्यात्मिक गुण है।

आत्मा स्वभावतः पवित्र और स्वच्छ है।

शरीर की स्वच्छता पर भी बहुत जोर दिया गया है। स्नान का तो बड़ा गहरा अर्थ है–

न जलाप्लुत देहस्य स्नानमित्यभिधीप।
स स्नातो योदमस्नातः शुचिः शुद्धमनोमलः॥

गंगाजल में शरीर को डुबो लेना मात्र स्नान नहीं कहलाता। जिसने दम रूपी तीर्थ में स्नान किया है, मन इंद्रियों को वश में कर रखा है, उसी ने वास्तव में स्नान किया है। जिसने मन के मैल को धो डाला है, वही शुद्ध है।

भारतीय संस्कृति में शारीरिक स्वच्छता को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। जबकि अन्य कई संस्कृतियों में स्नान का कहीं उल्लेख तक नहीं है। कुछ लोग केवल हाथ और पाँव धो लेने मात्र को ही शारीरिक स्वच्छता मान लेते हैं। कुछ लोग स्वच्छ वस्त्र धारण कर पूजा गृह में आराधना कर लेना यथेष्ट समझते हैं। यह शारीरिक स्वच्छता के बाहरी विधान मात्र हैं। यह हिंदू धर्म और भारतीय संस्कृति की ही विशेषता है, जिसमें आंतरिक और बाह्य दोनों प्रकार की शुचिता का पूरा–पूरा ध्यान रखा गया है। यही नहीं स्नान को तो धर्म का एक अंग मान लिया गया है। हमारे जितने धार्मिक कृत्य या अनुष्ठान हैं, बिना स्नान के अपूर्ण हैं। सबमें पहले स्नान द्वारा शरीर की शुद्धि का विधान रखा गया है। स्नान करना स्वास्थ्य की दृष्टि से भी बड़ा महत्वपूर्ण नियम है। इसकी अवहेलना करने से शारीरिक बीमारियाँ होने की आशंका है। अतः प्रतिदिन ब्रह्ममुहूर्त में शय्या त्यागने के पश्चात शौचादि कर्मों से निवृत्त होकर दैनिक स्नान का विधान है। स्नान के उपरांत शारीरिक शुद्धि होने पर मन ईश्वर–चिंतन, भजन, स्वाध्याय में अधिक लगता है।

''संस्कृति'' शब्द का एक अर्थ है ''चमक'' या पालिश,

सफाई। संस्कृति में केवल संस्कारों का ही नहीं, बाहरी शारीरिक सफाई और शुद्धि का भी बड़ा महत्व है। स्वच्छ शरीर में ही स्वच्छ निर्मल आत्मा रह सकती है। जिसका शरीर गंदा है और मैल से भरा हुआ है, वह भला क्योंकर सुसंस्कृत होगा? अतः स्नान द्वारा शारीरिक शुद्धि या शोभा बढ़ाने का विधान स्वास्थ्य की दृष्टि से बड़ा हितकारी है।

फिर जो कुछ ऐसे हिंदू बच रहते हैं, जो दैनिक स्नान नहीं कर पाते, उनके लिए कुछ ऐसे पर्वों या उत्सवों का विधान रखा गया है, जिनमें स्नान करने का अपेक्षाकृत अधिक पुण्य माना गया है। जैसे कुंभ के दिनों में तीर्थों पर बड़े–बड़े पर्वों पर स्नान का विधान रखा गया है। हिंदुओं के प्रायः सभी तीर्थ पवित्र नदियों के किनारे बसे हुए हैं, या उनके आस–पास पवित्र तालाबों का निर्माण किया गया है। नदियों को पवित्रता दी गई है और उनमें स्नान करने को धर्म में सम्मिलित कर लिया गया है। जो व्यक्ति साधारणतः स्नान नहीं भी करता, वह भी इन पवित्र नदियों या इन पर्वों पर तो विशेष रूप से स्नान करता ही है। फलतः स्वास्थ्य और दीर्घजीवन का सुख प्राप्त करता है।

गंगा और यमुना आदि में स्नान को विशेष महत्व दिया गया है। हमारे प्राचीन ऋषियों ने गंगा जी को ''सुधाकर'' कहा है। सुधा अमृत के लिए कहा जाता है, कर का अर्थ होता है, वर्षा करने वाला। अर्थात् जो अमृत की वर्षा करने वाला हो, उपयोगी हो, जिसको ग्रहण करना मानव मात्र के लिए सुख और कल्याण कारी हो। प्राणियों की प्रकृति, मन और आत्मा के सर्वथा अनुकूल होने के कारण गंगा जी को ''सुधा'' की संज्ञा सर्वथा सार्थक है। आयुर्वेद के मतानुसार गंगाजल शीतल, स्वच्छ, सुस्वादु, रोचक, पथ्य, पाचक–पवित्र, तृष्णा एवं मोहनाशक, जठराग्नि और बुद्धि वर्द्धक है। यों तो किसी भी जल से मनुष्य

स्नान कर सकता है, किंतु गंगाजी के जल से स्नान करने का बड़ा महात्म्य है। चित्तवृत्ति को शांत रखने के लिए प्रातः ही गंगा स्नान का विधान है। स्नान के अनेकानेक गुण होने पर भी केवल गंगा स्नान का सुयोग प्राप्त हो, तो वह शरीर के सब विकारों को नष्ट करने वाला, जठराग्नि को दीप्त करने और शक्ति एवं प्रतिभा को बढ़ाने वाला है।

स्नान का स्वाभाविक गुण गंगाजल में विद्यमान है। यदि आप स्नान न भी करें, केवल पीने में गंगाजल उपयोग करें, तो भी स्नान के गुण आपके शरीर में उत्पन्न हो जाएँगे। गंगाजल मानव स्वास्थ्य के लिए परम उपयोगी है और आरोग्यवर्द्धक है। स्वच्छ, रोचक, एवं सुस्वादु होने के कारण ही मानव–रसना इसे सुगमता से ग्रहण कर लेती है। हिमालय की धातुओं, मणियों तथा दिव्य औषधियों के मिश्रण से लंबी धारा में प्रवाहित होने के कारण गंगाजल विषनाशक, पुष्टिकर व आरोग्य दायक है।

वर्षा ऋतु में नदियों के जल का प्रयोग वर्जित है, किंतु गंगा जल को छोड़कर ''वर्जयित्व पुरायगाम्'' ऐसा आदेश है। गंगा का जल स्नान तथा प्रयोग दोनों के लिए उपकारी है।

भारतीय संस्कृति यह मानती है कि स्नान से केवल शरीर का बाहर का मैल ही नहीं धुलता, वरन् इससे आंतरिक शुद्धि में भी पर्याप्त सहायता मिलती है। जिसने शरीर को जल में डुबो लिया, वही स्नान नहीं कहलाता। जिसने दम रूपी तीर्थ में स्नान किया है, मन एवं इंद्रियों को वश में कर रखा है, उसी ने वास्तव में स्नान किया है। जिसने मन का मैल धो डाला है, उसी ने सच्चा स्नान किया है। यह स्मरण रखना चाहिए, जो लोभी है, चुगलखोर है, निर्दयी है, दंभी है, वह सब तीर्थों में स्नान करके भी पापी और मलीन रह जाता है।

''न शरीर तू मले त्यक्ते त्यागन्नरो भवनि निर्मलः।''

मानसे तु मले त्यक्ते भवत्यन्त सुनिर्मलः॥''

अर्थात्, केवल शरीर के मैल को उतार देने से ही मनुष्य निर्मल नहीं हो जाता। मानसिक मल का परित्याग करने पर ही वह भीतर से अत्यंत निर्मल होता है।

जल में निवास करने वाले जीव जल में जन्मते और मरते हैं, पर उनका मानसिक मल नहीं धुलता, इसी से वे स्वर्ग को नहीं जाते। विषयों के प्रति अत्यंत आसक्ति को ही मानसिक मल कहा जाता है और उसमें वैराग्य होना ही निर्मलता कहलाती है।

दायित्व निर्वाह और कर्त्तव्यनिष्ठा

भारतीय संस्कृति अधिकारों के स्थान पर मनुष्यों के उत्तरदायित्वों और कर्त्तव्यों पर अधिक जोर देती है। हम अनेक प्रकार के कर्त्तव्यों से बँधे हैं। माता, पिता, भाई, बहिन, पत्नी, संतान, पड़ोसी, देश, विश्व तथा ईश्वर इन सब के प्रति हमारे कर्त्तव्य हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह अधिक से अधिक प्रयत्न कर इन जिम्मेदारियों को पूरी तरह निभाता चले। उत्तरदायित्व से शक्तियाँ बढ़ती हैं, मन में शांति रहती है। जहाँ कहीं उत्तरदायित्व होता है, वहाँ कर्म द्वारा शक्ति बढ़ती जाती है। जिन मनुष्यों को जिम्मेदारी से काम नहीं करने पड़ते, उनकी वास्तविक शक्ति का कभी विकास नहीं होता।

भारतीय संस्कृति में धर्म का अर्थ है–कर्त्तव्य। भारतीय गृहस्थ हो चाहे सन्यासी, दूसरों की भलाई को कर्त्तव्य धर्म समझ कर करेगा। ऐसे कर्त्तव्य धर्म को जो भी स्वीकार कर लेता है, उसे न कठिनाइयाँ प्रतीत होती हैं और न दुःख शोक ही सताते हैं। उत्तरदायित्व में बँधे रहने वाला व्यक्ति अपने समय तथा शक्ति का सच्चा उपयोग करता है। आलस्य में कभी पड़ा

रहना नहीं चाहता।

''निदन्तु नीति निपुणा यदि वास्तु वन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेच्छम्।
अद्यैव वा मरणामस्तु युगान्तरे वा
न्सयाय्यात्पथः प्रतिचलन्ति पदं न धीराः॥''

''नीति विशारद लोग चाहे निंदा करें या प्रशंसा, लक्ष्मी आए या स्वेच्छानुसार चली जाए, मृत्यु आज ही हो अथवा युग–युगांतर में, किंतु कर्त्तव्यनिष्ठ, धीर पुरूष न्याय के पथ से विचलित नहीं होते।''

अपने उत्तरदायित्वों को पूर्ण करना प्रत्येक भारतीय का कर्त्तव्य है। सत्यवादी हरिश्चंद्र, वीर केशरी छत्रपति शिवाजी को कर्त्तव्य–पालन में जैसा कठोर दुःखों का अनुभव हुआ, वह सर्व विदित है। सतयुग में शिवि, दधीचि, त्रेता में मर्यादा पुरूषोत्तम रामचंद्र, द्वापर में धर्मराज युधिष्ठिर ने कर्त्तव्यों के पालन में भारतीय संस्कृति का मान रखा था। आधुनिक युग में राणाप्रताप और छत्रपति शिवाजी, गुरु गोविंदसिंह जैसे कर्त्तव्यनिष्ठ पुरूष उत्पन्न हुए हैं। कर्त्तव्य परायणता भारतीय संस्कृति का एक अमूल्य रत्न है, जिसके कारण राष्ट्र और समाज का अभ्युत्थान हुआ करता है।

अनीति का विरोध और धर्म की रक्षा

सच्चिदानंद रूप आत्मा इसलिए इस भूलोक में भेजा गया है कि सत्य के लिए, नीति के लिए, धर्म के लिए सदा प्रयत्न करता रहे। असत्य तथा अज्ञान के अंधकार में न फँसे। असत्य तथा अज्ञान से बच कर धर्म और सत्यता को ग्रहण करे और अपनी बुद्धिमत्ता का समुचित पुरस्कार पाए। धर्म का उद्देश्य

मनुष्य तथा समाज को सर्वतोमुखी उन्नति के मार्ग पर अग्रसर करके अंततः चरम लक्ष्य, शाश्वत सुख और परमानंद की प्राप्ति कर लेना है। धार्मिक व्यक्ति का शरीर और मन स्वस्थ रहना चाहिए, उसके मुख और वाणी से अमृत का झरना बहना चाहिए, जिसको पान करने से प्राणियों में शीतलता का भाव हो। धार्मिक व्यक्ति ऐसा प्रकाश स्तंभ होना चाहिए, जिसकी पुण्य रश्मियों में प्राणि मात्र को सुख का मार्ग प्राप्त हो। धर्म आत्मा का गुण है, जिससे संसार सुख–शांतिमय बनता है।

इस प्रकार के धर्म की स्थापना के लिए भारतीय वीर संघर्ष करते रहे हैं। अनीति और अन्याय से लड़े हैं। धर्म की पुकार पर गृहस्थ वीरों तक ने अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया है। भारत के असंख्य गृही नवयुवक अन्याय और अधर्म को दूर करने के लिए अपनी जान पर खेले हैं। प्राचीन भारत में अनेक ऐसे महात्मा हो गए हैं, जिन्होंने संसार और समाज के उपकार के लिए अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया था और इस कारण आज भी आदर और प्रेम से उनका नाम लिया जा रहा है।

वृक्षारोपण

सघन वनों के हरीतिमा पूर्ण वातावरण में भारतीय संस्कृति का अभ्युदय और विकास हुआ है। हमारी संस्कृति के सजीव केंद्र तपस्थल और आश्रम वन प्रांतों के अंतराल में स्थित थे। वृक्ष और वन जन–जीवन के प्राण स्रोत बन रहे हैं। भारतीय संस्कृति की उदारता की सीमा नहीं है। वृक्षों तक को हमारी सहानुभूति, प्रेम, आदर प्राप्त है। हम वृक्षों में चेतनता को मानते हैं, सुख–दुःख के अनुभव की शक्ति में विश्वास करते हैं। वृक्षों

की चेतनता का अनेक स्थानों पर वर्णन आया है। मनुस्मृति में एक दो स्थानों पर वृक्षों की योनि पूर्व जन्म के कारण मानी गई है और इन्हें जीवित एवं सुख–दुःख का अनुभव करने वाला माना गया है। सर जगदीशचंद्र बसु ने अब सिद्ध करके भी प्रत्यक्ष दिखा दिया है कि मनुष्य की तरह सुख–दुःख, मृत्यु, शोक, हर्ष इत्यादि सबका प्रभाव वृक्षों पर पड़ता है।

वृक्ष मानव मात्र के सेवक हैं। पग–पग पर सहायता करने वाले और मानव जीवन को ऊँचा उठाने वाले हैं। औषधि के रूप में तो उनके ऋण से मनुष्य, पशु कोई भी उऋण नहीं हो सकता। भोजन, छाया, लकड़ी, बहुमूल्य रासायनिक तत्व सभी का लाभ हमें वृक्षों से प्राप्त होता है। अतः हमारे यहाँ हरे वृक्ष को काटने से पाप लगना तक माना गया है। हिंदू जाति के आचार–विचार वैज्ञानिक तत्वों से ओत–प्रोत हैं। विशेष रूप से वृक्ष–पूजन विज्ञान तो सूक्ष्म अनुसंधान का सूचक है।

यों तो सभी वृक्षों से लाभ है, पर बरगद, नीम, पीपल, तुलसी, आँवला के वृक्ष रासायनिक दृष्टि से बड़े ही उपयोगी हैं। इसलिए इनकी पूजा को भारत में धर्म में सम्मिलित कर लिया गया है। तुलसी का पौधा घर में लगाना और नित्य प्रातः उसका पूजन तथा उसमें जल देना भारतीय नारियों का एक धार्मिक कृत्य रहा है। वैज्ञानिकों ने स्वीकार किया है कि तुलसी के संसर्ग से वायु शुद्ध रहती है, मलेरिया आदि विषैले कृमियों का नाश होता है। ज्वर में तो तुलसी अमृत–तुल्य है। मरण के समय तुलसी मिश्रित गंगाजल पिलाया जाता है। इससे आत्मा पवित्र होती है। राजयक्ष्मा के रोगी को पूर्ण लाभ होता है। तुलसी का दर्शन तक सभी शक्तियों को बढ़ाने वाला है। शरीर में संचित मल दूर हो जाते हैं। दूषित जल के शोधन में तुलसी–पत्र डाले जाते हैं।

इसी प्रकार देव–मंदिरों में पीपल रखने और उसे पूजने का विधान है। नारियाँ पीपल पर जल चढ़ाती और पुण्य प्राप्त करती हैं। पीपल में भी अनेक रासायनिक गुण विद्यमान हैं। यह स्त्रियों के गर्भ के स्थापन में सहायता देता है। इसकी छाया स्वास्थ्यवर्द्धक है। पीपल में संतानोत्पादन की बड़ी शक्ति है। पीपल के फलों में रासायनिक तत्व भरे हुए हैं। इसका चूर्ण पौष्टिक होता है। पीपल की जटा में बंध्यत्वनाशक विशेष गुण होता है। पीपल के पात्र में प्रतिदिन दूध पीने से आरोग्य होता है। हिंदू महिलाओं का यह विश्वास है कि निरंतर पीपल की पूजा करने से पुत्रोत्पत्ति होती है।

इसी प्रकार पलाश, आँवला और बड़ भी बड़े उपयोगी वृक्ष हैं। इनमें जीवनी–शक्ति बढ़ाने के अनेक तत्व विद्यमान हैं। यही कारण है कि इनके उपयोग को दृष्टि में रखकर इन्हें धर्म में स्थान दे दिया गया है। भगवद्गीता में पीपल को तो भगवान का स्वरूप कहा गया है।

अवतारवाद

भारतीय संस्कृति अवतारवाद में विश्वास करती है। जब पृथ्वी पर पाप–भार बढ़ जाता है, ईश्वर का अवतार होता है और वह अपनी शक्ति और सामर्थ्य से संसार का भार हल्का कर पुण्य की स्थापना करता है। हमारे पूर्व अद्भुत शक्ति संपन्न अवतारी महापुरूष हुए हैं और उन्होंने चकित करने वाले कार्य किए हैं। यदि हम यह मानें कि एक हार्स पावर (या कला) हममें है, तो हमारे अवतारों की कलाओं का कुछ सापेक्षिक महत्व हमारे सम्मुख आ सकता है। परशुराम तीन कला के अवतार थे, श्रीरामचंद्र १२ कला और श्रीकृष्ण सोलह कला के

अवतार माने गए हैं। रावण में १० कलाएँ थीं, पर उसमें कुछ आसुरी प्रवृत्तियाँ भी विकसित थी। अतः उसकी प्रवृत्ति विपरीत दिशा में चलती रही और उससे लाभ के स्थान पर हानि ही अधिक हुई।

सगुण रूप में ईश्वर के साकार स्वरूप का नाम ही अवतार है। निर्गुण निराकार का ध्यान तो संभव नहीं है, पर सगुण रूप में आकर वह इस संसार के कार्यों में फिर क्रम और व्यवस्था उत्पन्न करते हैं। हमारा प्रत्येक अवतार सर्व व्यापक चेतन सत्ता का मूर्त रूप है। श्री सुदर्शन सिंह ने लिखा है–

"अवतार शरीर प्रभु का नित्य–विग्रह है। वह न कायिक है और न पंच भौतिक। उसमें स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीरों के जैसा भेद भी नहीं होता, जैसे दीपक की ज्योति में विशुद्ध अग्नि है, दीपक की बत्ती की मोटाई केवल उस अग्नि के आकार का तटस्थ उपादान कारण है, ऐसे ही भगवान का श्रीविग्रह शुद्ध सच्चिदानंद है। भक्त का भाव उस आकार को व्यक्त करने का तटस्थ उपादान कारण है। यह आकार भी नित्य है, क्योंकि भक्त का भाव भावस्तर से उद्‌भूत है और भावस्तर धाम से। भगवान का नित्य विग्रह कर्मजन्य नहीं है। जीव की भाँति किसी कर्म का परिणाम नहीं है। वह स्वेच्छामय है, इसी प्रकार भगवदावतार कर्म भी आसक्ति की कामना या वासना प्रेरित नहीं है, दिव्य लीला रूप है। भगवान के अवतार के समय उनके शरीर का बाल्य कौमारादि रूपों में परिवर्तन नहीं होता। उनका तो प्रत्येक रूप नित्य है। जो परिवर्तन दीखता है, वह रूपों के आविर्भाव तथा तिरोभाव के कारण है।"

भगवान का अवतार नीति और धर्म की स्थापना के लिए होता रहा है। जब समाज में पापों, मिथ्याचारों, दूषित वृत्तियों, अन्याय का बाहुल्य हो जाता है, तब किसी न किसी रूप में पाप–

निवृत्ति के लिए भगवान का स्वरूप प्रकट होता है। उसमें हर प्रकार की शक्ति भरी रहती है। वह स्वार्थ लिप्सा के मद को, पाप को, पुंज को अपने आत्म–बल से दूर कर देता है। दुराचार, छल, कपट, धोखा, भय, अन्याय के वातावरण को दूर कर मनुष्य के हृदय में विराजमान देवत्व की स्थापना करता है।

पिता ने अपने पुत्रों को, परमात्मा ने आत्मा को, राजा ने राजकुमार को इसलिए भेजा है कि मेरी सृष्टि की न्यायपूर्ण व्यवस्था रखो। सत्य, प्रेम, विवेक को फैलाकर इस वाटिका को सुरम्य बनाओ। उसे इतना अधिकार नहीं दिया गया है कि सर्वत्र पाप, अन्याय और अत्याचार फैला दे। अव्यवस्था और अन्याय के समय के लिए शंभु का तीसरा नेत्र सुरक्षित है। जब मनुष्य के शरीर में फोड़े उठते हैं और बढ़ने लगते हैं, तो निर्दय डाक्टर की तरह भगवान चाकू घुसेड़ कर मवाद को निकाल डालना जानते हैं, भले ही रोगी हाय–हाय करता रहे और वेदना से विह्वल होकर हाथ–पाँव छटपटाए। तात्पर्य यह है कि ईश्वर अधिक दिन तक जगत में पाप की प्रवृत्ति नहीं देख सकते। कारण आत्मा की अखंडता ऐसी है कि एक व्यक्ति के पापों का फल अन्य व्यक्तियों को भी भोगना पड़ता है। इस प्रकार कुछ व्यक्तियों द्वारा फैलाए हुए पापों का फल पूरी सृष्टि को परेशान कर देता है। शेष जीवित प्राणि अनीति के, अत्याचार और आपत्ति के, राक्षस के कराल डाढ़ों में फँस जाते हैं। तब जगत पिता अपनी सांत्वनापूर्ण भुजाएँ फैलाकर करूण नेत्रों से संदेश देते हुए मानों कह उठते हैं–''पुत्रो! इस अत्याचारी को दंड देकर तो मैं दूर किए देता हूँ, पर भविष्य में कभी ऐसी भूल मत करना। तुम्हें इस पृथ्वी पर, संसार में सत्य, प्रेम और न्याय के सुमधुर फल चखने के लिए भेजा गया है, न कि इस सुरम्य वाटिका में दुराचार, छल, कपट, धोखा,अन्याय की आग लगाने

के लिए। अब पाप के बहकावे में मत आना। शैतान के पंजे से सावधान रहना। दंड सहकर तुम्हारे पाप संस्कार निवृत्त हो गए हैं। अब अपने कर्त्तव्य धर्म को समझो। तुम भोग–विलास या काम–वासनारत कीड़े नहीं हो, पवित्र निष्कलंक सात्विक प्रवृत्ति की आत्मा हो, निर्विकार हो। इंद्रिय लालसा के लिए कदम मत बढ़ाना। पिछली भूलों का प्रायश्चित करो और नवीन सत्य–युग का निर्माण करो।'

इस प्रकार हिंदू अवतार का सत्य स्वरूप यह है कि पाप दंडित हो। दुराचार, छल–कपट से मनुष्य बचते रहें। उन पर दंडित होने का आतंक छाया रहे। मनुष्यता शोधित होकर, पबित्र होकर, अपने विकार छोड़कर कर्त्तव्य धर्म पर आरूढ़ होती रहे। प्रभु का न्याय, सत्य, विवेक और प्रेम का संतुलन ठीक बना रहे। अवतार के बाद सतयुग का आरंभ होता है। निर्विकार आत्माओं का राज्य छा जाता है। दुराचार का वायुमंडल समाप्त हो जाता है और उज्ज्वल भविष्य दृष्टिगत होने लगता है।

अवतार कैसे होगा

निश्चय ही इस बात को महत्व नहीं देना चाहिए कि किस शरीर में ईश्वरीय अंश की विशिष्ठ कलाएँ स्वीकार की जाएँगी, क्योंकि यह स्वीकार करना जनता की इच्छा के ऊपर होता है।

एक काल में एक उच्च उद्देश्य की पूर्ति के लिए कभी–कभी कई अवतार एक साथ प्रकट होते हैं। रामचंद्र जी के युग में श्री परशुराम अवतार मौजूद थे। भरत और लक्ष्मण की आत्माएँ भी वैसी ही उच्चकोटि की थीं। हनुमान जी में भी दैवी कलाएँ बढ़ी–चढ़ीं थीं। श्री कृष्ण के समय पांडव उच्च उद्देश्य

की पूर्ति के लिए ही उसी प्रकार के अवतार थे।

महात्मा गौतम बुद्ध और महावीर भी अपने–अपने युग के दिव्य अवतार ही तो थे। इन सब में पाप का विरोध और सत्य, न्याय की स्थापना के अंश थे। इन चमत्कारी महापुरूषों ने अपने आत्म–बल से दिव्य जीवन की स्थापना की थी।

अवतार मल–मूत्र की गठरी में नहीं, वरन् एक उच्च नैतिक आध्यात्मिक भावना विशेष में होता है। यह भावना अचानक बड़ी तीव्र गति से जब बढ़ जाती है, तो उसके कर्त्ता को चमत्कारी महापुरूष समझा जाता है।

वास्तव में ईश्वरीय इच्छा का उस समय के व्यक्ति अनुकरण मात्र करते हैं और महत्व प्राप्त करते हैं। इन एक कालिक अवतारों में जो सर्वश्रेष्ठ होता है, उसे प्रधानता मिलती है। वैसे वह सब कार्य उस अकेले का नहीं होता। अन्य आत्माओं की शक्ति भी उतनी ही और कई बार उससे भी अधिक लगती है, तब कहीं जाकर वह उद्देश्य पूर्ण होता है।

राक्षसों का नाश करने में राम के अन्य साथियों की जो क्षमता थी, उसे भुलाया नहीं जा सकता। लंका का नाश करने में क्या वानर सेना तथा अन्य योद्धाओं ने कुछ नहीं किया था? क्या श्री लक्ष्मण जी की वीरता कुछ कम थी? अहिरावण के यहाँ कैद हुए राम–लक्ष्मण को छुड़ाने वाले महाबली हनुमान को क्या कुछ कम समझा जा सकता है? गोवर्द्धन उठाने में ग्वाल–वालों का सहयोग क्या उपेक्षणीय था? महाभारत के धर्म–युद्ध में क्या अकेले ही श्रीकृष्ण विजेता थे?

वास्तविकता यह है कि हिंदू संस्कृति के दृष्टिकोण से एक समय में अनेक अवतार होते हैं और सब की संघ–शक्ति से भौतिक परिवर्तन होते हैं।

सूक्ष्म परिवर्तन कारिणी आद्य शक्ति जो देवकी गर्भ से

कंस को सचेत करने के लिए उत्पन्न हुई थी, जिसे कंस ने शिला पर पटक कर मार डाला था। वह आद्य शक्ति अंतःकरण की प्रेरणा है।

अवतार से पूर्व हर मानव के हृदय में एक प्रकार की सनसनाहट लिए हुए एक आध्यात्मिक पुकार उठती है, वह यह स्पष्ट संकेत करती है कि "बस, अब हद हो चुकी। ठहरो, रूको, सोचो और गलती का संशोधन करो। मैं ईश्वरीय प्रेरणा लेकर आई हूँ। मेरा स्वागत करो। किंतु खेद है कि हजारों कंस उस युग वाणी को शिला पर पटक कर मार डालते हैं। आत्मा की उस दिव्य पुकार को कुचल डालते हैं और नृशंसतापूर्वक अपने पिछले पाप–व्यापार जारी रखते हैं।

यह आद्यशक्ति अवतार की पूर्व सूचना दुंदभी है, जो आकाश में, अंतर्लोकों में बहुत पहले सावधान होने के लिए कुहराम मचाती है। जो इस वाणी को नहीं सुनना चाहते और ईश्वरीय संदेश की अवहेलना करते हैं, वे आने वाले अवतार की तलवार से टुकड़े–टुकड़े कर दिए जाते हैं।

"जब किसी प्रकट शरीर में अवतार होगा, तो उसकी आज्ञा मानने लगेंगे।" इस प्रतीक्षा में बैठे रहने वाले उस अंधे के समान हैं, जो सोचता है कि जब सूरज दिखाई देगा, तब चारपाई छोड़ कर उठ बैठूँगा। आँखों के बिना उसे सूरज नहीं दीखता है। यह उसकी इच्छा है कि हमेशा चारपाई पर ही पड़ा–पड़ा मर जाए या उठ बैठे।

अवतार को उसके जीवन काल में पहचानने वाले बहुत ही कम होते हैं। अधिकतर को तो वह विरोधी ही दिखाई पड़ता है, क्योंकि वह तो नए जीवन, नए विचार को स्थापित कर जनता की पुरानी सड़ी गली आदतों को छुड़ाने के लिए आता है। शत्रुओं को प्रकाश से चिढ़ होती है, और उसे पानी पी–पी

कर कोसते हैं। जब वह चला जाता है, तो पछताते हैं कि ''हाय! सूर्य भगवान उदय हुए थे, पर हम अज्ञानवश उन्हें गालियाँ देने में ही लगे रहे।' अवतार की दिव्य कलाएँ पहचानना आसान नहीं है। इसमें बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। अनेक बार शरीरधारी अवतारों को देखकर उनके पीछे–पीछे चलने की इच्छा रखने वाले प्रायः धोखा खा जाते हैं। उन्हें कोई दूसरा ठग बहका कर ले जाता है। हो सकता है अवतार के धोखे में वे शैतान की पूजा करते रहें, क्योंकि स्थूल आँखों का ज्ञान बहुत ही अधूरा है। मूर्खों के लिए मोर मुकुट पीतांबर धारण करने वाले लड़के ही साक्षात कृष्ण है, किंतु ज्ञानी पुरूष भगवान की झाँकी ज्ञान पूर्वक दिव्य–दृष्टि द्वारा करता है। जो अपने मुँह से चिल्लाकर कहता है कि मैं अवतार हूँ। वह झूठ बोलता है। अवतार स्वयं अपने कार्य और विचारों से प्रकट हो जाता है।

भारतीय संस्कृति की मान्यताएँ

पुनर्जन्म में विश्वास

भारतीय संस्कृति यह मानती है कि मृत्यु से जीवन का अंत नहीं होता, जीव नाना योनियों में जन्म लेता है। चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करने के पश्चात जीव मनुष्य जैसे दुर्लभ शरीर को प्राप्त करता है। योनियों में क्रमशः विकासवाद के सिद्धांत का पालन किया जाता है। अर्थात् स्वेदज, उद्भिज, अंडज, जरायुज क्रमशः एक के बाद दूसरी कक्षा की योग्यता और शक्ति बढ़ती जाती है। स्वेदज जीव में जितना ज्ञान और

विचार है, उसकी अपेक्षा उद्‌भिजों की योग्यता बढ़ी हुई है। इसी प्रकार योग्यता बढ़ते–बढ़ते शरीरों की बनावटों में भी अंतर होने लगता है और पूर्ण उन्नति एवं विकास होने पर मानव शरीर प्राप्त हो जाता है। मनुष्य योनि इस संसार की सर्वश्रेष्ठ योनि है। अंततः जीव इसी योनि तक आ पहुँचता है। इस प्रकार जीव नीचे से ऊपर की ओर या तुच्छता से महानता की ओर लगातार बढ़ते चले आ रहे हैं। आत्मवादी तो यह मानते हैं कि आत्मा ही बढ़ते–बढ़ते परमात्मा हो जाता है।

इस मान्यता की धुरी नैतिकता में रखी गई है, जिससे समाज तथा व्यक्ति दोनों को ही लाभ होता है। इस मान्यता में विश्वास करने वाला व्यक्ति यह मानता है कि ''मेरी जैसी आत्मा सबकी है और सबकी जैसी ही मेरी आत्मा है।'' इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि ''मेरी आत्मा की अवस्था भूतकाल में अन्य जीवों जैसी हुई है और भविष्य में भी हो सकती है। सभी जीव किसी न किसी समय मेरे माता–पिता आदि संबंधी रहे हैं और भविष्य में भी रह सकते हैं।''

इस प्रकार इस मान्यता से मनुष्य का सब जीवों के प्रति प्रेम और भ्रातृत्व भाव बढ़ता है। हम एक दूसरे के समीप आते हैं इससे यह भी स्पष्ट होता है कि जीव की कोई योनि शाश्वत नहीं है। हिंदु धर्म के अनुसार परलोक में अनंतकालीन स्वर्ग या अनंतकालीन नरक नहीं है, जीव के किसी जन्म या किन्हीं जन्मों के पुण्य या पापों में ऐसी शक्ति नहीं है कि सदा के लिए उस जीव का भाग्य निश्चित कर दे। वह पुरूषार्थ से सुपथगामी होकर आत्म–चिंतन द्वारा उन्नत अवस्था को प्राप्त कर सकता है। दूसरी ओर बुरे कर्म करने के कारण सजा के रूप में

अधःपतन को भी धारण कर सकता है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति में इसी जगत में सद्कर्म, सद्व्यवहार तथा सद्आचरण द्वारा पुरूषार्थ, सत्प्रयत्न और आशा को प्रेरणा मिलती रहती है। पुनर्जन्म में अपने सद्प्रयत्नों से हम बहुत कुछ सुधार कर सकते हैं। हम स्वयं अपने भविष्य निर्माता हैं। सब कुछ हमारे हाथ की बात है।

मनुष्य के अंतर्गत तथा गुप्त मानसिक प्रदेश का विश्लेषण करने से पता चलता है कि वह ज्ञान का भंडार है। साधारण व्यक्ति को भी देखें, तो मानसिक दृष्टि से बुद्धिमान से बुद्धिमान पक्षी की अपेक्षा विकसित और चतुर दिखाई देता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य योनि में आने से पूर्व के असंख्य अनुभव उसकी गुप्त चेतना में भरे हुए हैं। वे पूर्व संचित संस्कार और पुराने अनुभव समयानुसार जागृत और प्रस्फुटित होते रहते हैं। चतुर व्यक्ति अनेकानेक असाधारण कार्य कर डालते हैं। उनकी योग्यताएँ असाधारण होती हैं। इसका यही कारण है कि उन्होंने जन्म–जन्मांतरों के अनुभव रूपी गढ़े हुए खजाने को उखाड़ लिया है। वैज्ञानिकों ने भौतिक संसार में जो अनेक आविष्कार किए हैं, इन शोधों में प्रधान सहायता उनके गुप्त मन में पुरानी योनियों के संस्कारों से मिली है। आत्मा ज्ञान रूप है, परंतु धुआँ रूप जीव तो आत्मा के ज्ञान से गतिवान होता है और सांसारिक अनुभवों को योनियों की पाठशाला में पढ़ता है। जीव जीवन संबंधी अनुभवों को धीरे–धीरे संचय करता है। आत्मा साक्षी रूप और निर्विकार है, वह जीव के सुख–दुःख में भाग नहीं लेता, केवल उसे प्रेरणा देता रहता है।

आस्तिकता

भारतीय संस्कृति ईश्वर की सत्ता में अखंड विश्वास करती है। ईश्वर सर्व व्यापक है, यह मान्यता हिंदू धर्म का आधार रूप है–

''ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥''

मुंडक.२–२–११

अर्थात् ''वह अमृत स्वरूप परब्रह्म ही सामने है। ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दाँई ओर तथा बाँई ओर, नीचे की ओर तथा ऊपर की ओर भी फैला हुआ है। यह जो संपूर्ण जगत है, वह सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही है।''

हम मानते हैं कि परब्रह्म महान परमात्मा दिव्य और अचिन्त्य स्वरूप है। वह सूक्ष्म में भी अत्यंत सूक्ष्म रूप से प्रकाशित होता है। वह दूर से भी अत्यंत दूर है। इस शरीर में रहकर भी अति समीप है, यहाँ देखने वालों के भीतर ही उनकी हृदय रूपी गुफा है। जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ नाम रूप को छोड़कर समुद्र में विलीन हो जाती हैं, वैसे ही ज्ञानी, महात्मा नाम रूप से रहित होकर उत्तम दिव्य परम पुरूष परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। कहा गया है कि–

''यस्यान्त सर्वमेदमच्युतस्यालयात्मनः।
तमाराधय गोविन्दं स्थानमग्रयं यदीच्छसि॥''

विष्णु पुराण१–११–४५

अर्थात् ''यदि तू श्रेष्ठ स्थान का इच्छुक है, तो जिन अविनाशी अच्युत में यह संपूर्ण जगत ओत–प्रोत है, उन गोविंद

की ही आराधना कर।'

भारतीय संस्कृति भगवान की साकार उपासना में विश्वास करती है। हमारा यह विश्वास रहा है कि संसार चक्र में पड़े हुए मनुष्यों के लिए, जिस साधन से उस भगवान की अनन्य प्रेममयी भक्ति प्राप्त हो जाए, उसके अतिरिक्त और कोई भी कल्याणकारी मार्ग नहीं है। भारतीय संतों, विचारकों, दार्शनिकों और ज्ञानियों ने आत्मस्वरूप भगवान की कथा तथा लीलामृत वचनों का प्रसाद मुक्तहस्त से बाँटा है।

''श्रुत सकीर्तितो ध्यानः पूजितथ्याहतोऽपि वा।
नृणां धुनोति भगवान हृत्स्थो जन्मायुताशुभम्॥''

''भगवान के रूप, गुण, लीला, धाम और नाम के श्रवण, संकीर्तन, ध्यान, पूजन और आदर से वे स्वयं मनुष्य के हृदय में आकर विराजमान हो जाते हैं। एक दो जन्मों की तो बात ही क्या, हजारों जन्मों के पाप ढेर के ढेर भी क्षण भर में भस्म हो जाते हैं।'

तात्पर्य यह है कि भारतीय संस्कृति मानव जीवन का साफल्य आस्तिकता में ही मानती है। मनुष्य की उन्नति के लिए यह भावना आवश्यक भी है। वह अन्य प्राणियों के प्रति अत्याचार और स्वयं अपने बंधु–बाँधवों के प्रति नृशंसता करना तब ही छोड़ सकता है, जबकि वह मनुष्य की सत्ता की अपेक्षा अन्य उच्चत्तर, दृढ़तर, शक्तिवान शासन को स्वीकार करे।

मनोविज्ञान का यह अटल सत्य है कि भय से प्राणी सन्मार्ग के निकट रहता है। उसे सदा मन ही मन यह गुप्त भय रहता है कि यदि मैं कोई गलती करूँगा, पाप मार्ग पर जाऊँगा,

किसी के ऊपर अन्याय, अत्याचार इत्यादि करूँगा, तो मुझे सजा मिलेगी। हमारे पाप, अन्याय, अत्याचार या नृशंसता की रोक करने वाली सत्ता का नाम ईश्वर है। हम यह समझते हैं कि पाप मार्ग पर चलने से हमें नर्क की यातनाएँ भोगनी होंगी। इसलिए हम उत्तम मार्ग न छोड़कर नीच वृत्ति से सदा बचे रहते हैं। आस्तिकता वह शक्ति है, जो हमें पाप कर्म की ओर जाने से रोकती है। दीनों, अनाथों, गरीबों के प्रति अनादर पीड़ा पहुँचाने से बचाती है। यदि यह भावना न हो, तो पापियों की संख्या और भी बढ़ जाएगी, जो अच्छी वृत्तियों वाले लोगों को भी पापों में ढकेल कर इस पृथ्वी का सर्वनाश कर देंगे। ईश्वर में विश्वास हमारे समाज के लिए कवच का काम करता है, जो दुष्ट विश्वासघाती हैं, व्रत का उल्लंघन करते हैं, समाज के द्वेषी हैं, वे इसी भाव से डरकर पाप कर्मों से बचते हैं।

भारतीय संस्कृति यह मानती है कि ईश्वर शक्तिशाली है। असंख्य नेत्रों से हमें और हमारे कार्यों, गुप्त मंतव्यों, बुरी भावनाओं, झूँठ, कपट, मिथ्या को देखते हैं और नाना रूपों में हमें उसकी सजा देते हैं। अतः हमें नीच वृत्तियों से बचना चाहिए।

एक विद्वान के शब्दों में हम यों कह सकते हैं–

''मानवी सभ्यता को उचित मार्ग पर बनाए रखने के लिए यह जरूरी है कि मनुष्य प्राणि–सत्ता से अधिक किसी विशेष बलशाली की सत्ता को स्वीकृत करे। उसके प्रति आदर की भावना हो। उसकी दया के लिए सदैव लालायित रहे, उसके कोपभाजन होने का भय ही मनुष्य को सन्मार्गगामी बनाकर उसे कर्त्तव्यपथ पर स्थिर रख सकता है। ऐसी धारणा ही उसे

मनुष्य बनाए रखती है। यदि मनुष्य अपने को ही सर्वस्व मान ले तो अहमन्यता के कारण मानवता लुप्त हो कर दानवता का तांडव प्रारंभ हो जाता है। इसलिए आवश्यक है कि हम अपने ऊपर किसी के अस्तित्व को स्वीकार करें।'

आस्तिकता की भावना का हमारे यहाँ व्यापक प्रसार और विस्तृत व्याखाएँ हुई हैं। ईश्वर के निर्धारित मार्ग पर न चलने वालों को नर्क में असंख्य यातनाएँ मिलती हैं–ऐसा माना गया है। पद्मपुराण में एक स्थान पर नर्क में कौन जाते हैं, इसकी व्याख्या की गई है। उसका सार इस प्रकार है–

''जो द्विज लोभ से मोहित हो, पावन ब्राह्मणत्व का परित्याग करके कुमार्ग से जीविका चलाते हैं, वे नरकगामी होते हैं।'

''जो नास्तिक हैं, जिन्होंने धर्म की मर्यादा भंग की है, जो काम, क्रोध, लोभ, मोह के उत्कंठित, दंभिक और कृतघ्न हैं, जो ब्राह्मणों को धन देने की अपेक्षा उन्हें दुःखी करते हैं या धन नहीं देते, चुगली करते हैं, अभिमान रखते हैं और झूठ बोलते हैं, वे नर्क में जाते हैं।'

''जिनकी बातें परस्पर विरोधी होती हैं, जो दूसरों का धन हड़प लेते हैं, दूसरों पर कलंक लगाने के लिए उत्सुक रहते हैं या पराई संपत्ति को देखकर जलते हैं, वे नरक में जाते हैं।'

''जो मनुष्य सदा प्राणियों के प्राण लेने में लगे रहते हैं, पराई निंदा में प्रवृत्त होते, कुएँ, बगीचे, पोखरें और गौशालाओं को दूषित करते हैं, सरोवरों को नष्ट–भ्रष्ट करते तथा शिशुओं, मृत्यों और अतिथियों को भोजन दिए बिना ही भोजन कर लेते

हैं, जिन्होंने श्राद्ध और यज्ञ को त्याग दिया है, जो सन्यास तथा अपने रहने के स्थान–आश्रम आदि को कलंकित करते हैं और मित्रों पर लाँछन लगाते हैं, वे सब नरकगामी होते हैं।'

धर्मग्रंथों में ईश्वरत्व

हिंदू–संस्कृति अपने अनेक ग्रंथों को ईश्वर के वचनों से परिपूर्ण मानती है। उनमें दिव्यता, सात्विकता और वह उपयोगिता भरी हुई है कि वह ईश्वरीय प्रेरणा के ही फल हैं। गीता, उपनिषद, वेद, रामायण, महाभारत, योगसूत्र, स्मृतियाँ इत्यादि हमारी वे अमूल्य निधियाँ हैं, जिनमें हमें ईश्वरत्व के दर्शन हो जाते हैं। भारतीय संस्कृति में वेदों का स्थान बहुत गौरव का है। श्रुति (वेद) के ऊपर ही भारतीय धर्म, सभ्यता, आचार–विचार, रहन–सहन, कर्म आदि टिका हुआ है। उच्च आध्यात्मिक ज्ञान के भंडार का नाम ही वेद है, स्मृति और पुराणों में भी वेद का प्रचुर महत्व स्वीकार किया गया है।

मनु भगवान ने वेद के जानने वाले विद्वान की प्रशंसा में लिखा है कि ''वेद शास्त्र के तत्व को जानने वाला व्यक्ति किसी भी आश्रम में रहे, वह इसी लोक में रहते हुए ब्रह्म का साक्षात्कार करता है।' मनु जी ने वेद का अध्ययन न करने वाले ब्राह्मण की बड़ी निंदा की है। द्विज का द्विजत्व तभी सार्थक होता है, जब वह वेदों का अध्ययन करे और गुरु से दीक्षा ले।

कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय धर्म–ग्रंथ दैवी संकेतों, उपयोगी ज्ञान, सदुपदेश, मंत्र, स्वर्णसूत्रों से भरे पड़े हैं। इनके अध्ययन और आचरण से हम बुद्धिमान और सद्गुणी

बनते हैं, संसार में प्रतिष्ठा और आदर पाते हैं, गुप्त मानसिक उद्वेगों से बचते हैं, शत्रुओं के अनिष्ट प्रभाव से बचते हैं, कुविचार, कुसंस्कार और बुरी आदतों से छुटकारा पाते हैं, बुद्धि में सद्गुण और प्रतिभा का विकास करते हैं और सद्गति प्राप्त करते हैं। इनकी शिक्षाओं से हम सच्चे धर्मात्मा और योगी बनते हैं। अपने वास्तविक आत्म स्वरूप को समझ कर उच्च सत्ता–परमात्मा से प्रेम करके उनके उच्च दैवी गुणों को आकर्षित करके अपने अंदर धारण करते हैं।

हिंदू धर्म ग्रंथ ईश्वरीय वाणी, ईश्वरीय गुण, उनकी विभूतियों, अतुल शक्तियों, विभिन्न लीलाओं के विपुल भंडार हैं। गरीबों को दरिद्रता से छुड़ाने की, दुखियों के दुख दूर करने की, शरीर और मन को निरोग करने और आधि–व्याधि को भुला देने की जितनी शक्ति इन धर्म ग्रंथों में छिपी हुई है, उतनी संसार की किसी अन्य वस्तु में नहीं है। ईश्वर ने हमें जिस पुण्य भूमि में कर्त्तव्य करने के लिए, जीवन का सद्व्यय करने के लिए भेजा है, उसके नियम और साधन, कर्त्तव्य और अधिकार सब इन अमूल्य ग्रंथों में भरे हुए हैं।

हम मरणशील प्राणियों के लिए परमात्मा ने यह मृत्युलोक ही क्रीड़ा भूमि बनाई है। हमें उसमें गुण, पवित्रता और महानता की दृष्टि रखनी चाहिए। इसे ही स्वर्ग समझना चाहिए। मनुष्य शरीर देवताओं को भी दुर्लभ है। इसमें सात्विकता और आध्यात्मिकता से जीवन व्यतीत करने से ही सबसे अधिक आनंद उपलब्ध किया जा सकता है और सत्कार्यों द्वारा अपने जीवन को धन्य बनाते हुए परमपद प्राप्त किया जा सकता है।

यह सब ज्ञान और नियम हमें अपने धर्म ग्रंथों में मिलते हैं। भारत धर्म प्रधान देश है। इसलिए यहाँ धार्मिक ग्रंथों और धर्म को महत्व देने वाले ऋषि–मुनियों और पवित्र आत्माओं की प्रचुरता है।

हिंदू धर्म ग्रंथों का वर्गीकरण करें, तो हमें प्रधानतः तीन वर्गों के ग्रंथ मिलते हैं। जैसे–

१–कथानक प्रधान जैसे रामायण, महाभारत, भागवत इत्यादि इनमें, ज्ञान, भक्ति, कर्म इत्यादि के मार्ग को स्पष्ट करने वाली अनेक कथाएँ हैं। आदर्श महापुरुषों के चरित्र हैं। ये महापुरुष कहीं भगवान के रूप में अनके लीलाएँ करते हैं, तो कहीं महापुरुषों की तरह रूढ़ियों, अनीतियों और कुप्रवृत्तियों से विरोध करते हुए मिलते हैं, जितनी देर तक हम इन पवित्र ग्रंथों को पढ़ते हैं, उतनी देर तक उच्च संगति में रहते हैं। तदनुकूल कार्य करने की प्रेरणा हमें प्राप्त होती है।

२–आचार प्रधान जैसे मनुस्मृति, आचार संहिता इत्यादि। इनमें मनुष्य के आचरण का गुप्त मर्म स्पष्ट कर दिया गया है।

३–दार्शनिक विवेचना प्रधान जैसे श्रीमदभागवद् गीता, इसमें जीवन की व्याख्या दार्शनिक सिद्धांतों के रूप में दी गई है।

भौतिक जगत की जड़ता, नीरसता और बहिरंगता की कर्कशता से छुड़ाने की शक्ति हमारे धर्म ग्रंथों में भरी पड़ी है। उनमें जीवन का वह रस भरा हुआ है, जिसे पान करके तुच्छ जीवन से उठकर हम महामानव बनते हैं। हिंदू संस्कृति पुकार–पुकार कर यह कहती है कि हर एक को धर्म–ग्रंथ प्रेमी होना चाहिए, विचारपूर्ण सद्ग्रंथों का संग्रह और स्वाध्याय कर अपने को पशुता से देवत्व की ओर ले जाना चाहिए।

पुरानी प्रत्येक पुस्तक धर्म–ग्रंथ नहीं है, यह स्मरण रखना चाहिए। जैसे ''चाणक्य–सूत्र'' राजनीति का प्राचीन ग्रंथ मात्र है। वात्स्यायन का '' कामसूत्र'' काम विज्ञान का ग्रंथ है। हिंदू धर्म की यह विशेषता रही है कि महापुरुषों के व्यक्तित्व का तो खूब सम्मान करना चाहिए, पर यह आवश्यक नहीं कि आप उनके विचार मानें ही। विचार स्वातंत्र्य पूरा–पूरा है। इसीलिए समय–समय पर बहुत से ऋषियों ने विविध व्यवस्थाएँ तथा व्याखाएँ की हैं। समय काल के अनुसार धर्माचरण बदलता है, यह स्मरण रखना चाहिए।

स्वर्ग और नरक

भारतीय संस्कृति में स्वर्ग और नरक का विधान है। शुभ कार्यों से स्वर्ग और निंदनीय कार्यों, दुराचरण, पाप आदि से नर्क की कठोर यातनाएँ भुगतनी पड़ती हैं, हम यह मानते आए हैं। स्वर्ग को नाना नामों से पुकारा गया है। इसका एक नाम ब्रह्मलोक भी है। कहा गया है

''तेषां मे वैष ब्रह्मलोको येषां,
तपो ब्रह्मचर्य येषु प्रतिष्ठितम्।''

''जिनमें तप ब्रह्मचर्य है, सत्य प्रतिष्ठित है, उन्हें ब्रह्मलोक मिलता है।''

जिनमें न तो कुटिलता है और न मिथ्या आचरण है और न कपट है, उन्हीं को विशुद्ध ब्रह्मलोक मिलता है।

जिस मानव में आशंका, दुःख, चिंता, भय, कष्ट, क्षोभ और निरुत्साह है, भोग–विलास और तृष्णा है, वही नरक है। जो धर्म–पालन, ईश्वर सत्ता से विमुख है, नास्तिक है, वह नरक में जाता है। नष्ट हो जाता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह–यह चारों

नर्क के द्वार हैं। इनमें से किसी के भी वश में पड़ जाने पर नरक में पड़ा समझना चाहिए। अशुभ वासनाओं के भ्रम जंजाल में पड़कर मनुष्य दारुण नरक की यंत्रणा में फँस सकता है। अन्य प्राणी तो क्षुधा और वासनाओं के जंजाल में बँधे हुए वासना तृप्ति में जीवन नष्ट कर रहे हैं। वे नवीन कर्मों के द्वारा अपने को समुन्नत करने का प्रयत्न नहीं करते, पर मनुष्य कर्मयोनि में रहकर नए संस्कारों का उपार्जन करने वाला प्राणी है। उसके सामने दो मार्ग हैं, एक तो बंधन या नरक का और दूसरा मोक्ष या स्वर्ग का। संसार के भोगों में फँसा हुआ मानव नरक में ही पड़ा हुआ है। इसके विपरीत सत्संग, परोपकार, शुभ कार्य, समाज–सेवा, आत्म–सुधार द्वारा मनुष्य मोक्ष की ओर अग्रसर होता है।

जो व्यक्ति पाप–प्रवृत्तियों में लगे रहते हैं, वे बार–बार आसुरी योनि को, अधम गति को प्राप्त होते हैं। विषयासक्ति में पड़े हुए भोगों को लगातार भोगने वाले नरक में जाते हैं। सांसारिक भोग और सुखों की प्राप्ति के लिए जो मनुष्य साधन रूप में लगातार हेय कर्मों में लगे रहते हैं, वे पापों के परिणामस्वरूप हीन योनियों (कीट, पतंग, शूकर, कूकर या वृक्ष, पत्थर इत्यादि) में जाते हैं।

पौराणिक मान्यता है कि स्वर्ग और नरक दो भिन्न–भिन्न लोक हैं। दंड या पुरस्कार प्राप्ति के लिए मनुष्य वहाँ जाता है। वहाँ अपने पुण्य–पाप का पुरस्कार प्राप्त कर जीव पुनः इस लोक में आता है। दूसरी मान्यता यह है कि स्वर्ग और नरक स्वयं मनुष्य में ही विद्यमान हैं। ये उसके मन के दो स्तर हैं। मनुष्य के मन में स्वर्ग की स्थिति वह है, जिसमें देवत्व के सद्‌गुणों का पावन प्रकाश होता है। दया, प्रेम, करुणा, सहानुभूति, उदारता की धाराएँ बहती हैं। इस स्थिति में मन स्वतः प्रसन्न

रहता है। यही मानसिक मार्ग कल्याणकारी है। अतः इसे स्वर्ग की स्थिति भी कहा जा सकता है। दूसरी मनःस्थिति वह है जिसमें मनुष्य उद्वेग, चिंता, भय, तृष्णा, प्रतिशोध, दंभ आदि राक्षसी वृत्तियों के कारण हैरान–परेशान रहता है, ऐसी परिस्थितियाँ मनुष्य को अधंकूप में डाल देती हैं। अनुताप और क्लेश की काली और मनहूस मानसिक तसवीरें चारों ओर दिखाई देती हैं। अंतर्जगत यंत्रणा से व्याकुल रहता है। कुछ भी अच्छा नहीं लगता। शोक, संताप और विलाप की प्रेतों जैसी आकृतियाँ अशांत रखती हैं। यही नरक की स्थिति है। इस प्रकार इस जगत में रहते हुए मानव जीवन में ही हमें स्वर्ग और नरक के सुख–दुःख प्राप्त हो जाते हैं। भारतीय संस्कृति के अनुसार संभव है कि अपने पवित्र कर्मों द्वारा आपको इसी जगत में मनःशांति, सुख, स्वास्थ्य, संतुलन इत्यादि प्राप्त हो जाए या अपने कुकृत्यों द्वारा अशांति, द्वेष, बैर, तृष्णा, लोभ आदि का नरक मिले।

ब्राह्मणत्व

पवित्रता, बुद्धिमत्ता, विद्या, विवेक, सदाचरण, त्याग और तपस्या के आधार पर हमारे यहाँ मनुष्यों में श्रेष्ठता का विधान रखा गया है। मनुष्यों में कौन श्रेष्ठतम है? किन मानवों में मनुष्यत्व के सर्वोपरि गुण हैं? इस प्रश्न के उत्तर में हिंदू संस्कृति के विचार महत्वपूर्ण हैं। भारतीय विचारकों ने संक्षेप और तुलनात्मक दृष्टि से इस प्रश्न का उत्तर दिया है।

शंका उठती है कि क्या–क्या तत्व हैं, जिनके ऊपर कस कर श्रेष्ठता का निर्णय किया गया है? यह शरीर–शक्ति है, या संस्कार, विषय–प्रवृत्ति, प्रेरक तत्व, कार्य–संचालन अथवा बुद्धि–

वैभव है?

शारीरिक शक्ति में तो पशु ही ऊँचे माने जा सकते हैं। मनुष्य की मुख्यता तो उसके बुद्धि–विकास में ही है। बुद्धि और ज्ञान की श्रेष्ठता के बल पर ही मनुष्य अन्य जीवों पर राज्य करता है। इस मानव जगत में आहार, निद्रा, भय और मैथुन तक ही सीमित रहने वाले अनेक मनुष्य हैं। ये पशु की कोटि से ऊँचे नहीं उठ पाए हैं। बुद्धि का विकास न होने के कारण ऐसे लोग समाज का साधारण मोटा कार्य ही कर पाते हैं। भारतीय संस्कृति में इन्हें शूद्र की संज्ञा दी गई है। ये व्यक्ति मुख्यतः शारीरिक श्रम करते हैं और दैहिक तप ही इनकी विशेषता है।

दूसरा वर्ग ऐसे व्यक्तियों का है, जो इस वर्ग से कुछ ऊँचे हैं। वे शरीर श्रम तो करते हैं, पर बुद्धि का भी उपयोग करते हैं। उनका लक्ष्य केवल अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति मात्र होता है। किसान खेती करके अपनी आवश्यकता की पूर्ति के साधन इकट्ठा करता है। इसी प्रकार वैश्य व्यापार द्वारा व्यवसाय कर जीविका उपार्जन करता है। इसका क्षेत्र अपने तक ही सीमित है।

तीसरा वर्ग इससे ऊँचे उन व्यक्तियों का है, जो पहले की अपेक्षा बुद्धि और शक्ति दोनों से ही अधिक काम लेते हैं। समाज की रक्षा का उपाय सोचते और शारीरिक शक्ति से रक्षा स्वयं करते हैं। सब प्रकार की कुटिलताओं की जानकारी रखना, उपयुक्त समय पर सचेत रहना, शारीरिक बल से देश और समाज की रक्षा करना, अस्त्र–शस्त्रों का प्रयोग करना– यह कार्य क्षत्रिय वर्ग का है।

इन तीनों से उच्च एक चौथा स्तर है। इनमें दो तत्वों की प्रधानता है। १–बुद्धि और ज्ञान का चरम विकास, २–दूसरों की भलाई और परोपकार के लिए इस ज्ञान का उपयोग। यह

ब्राह्मण वर्ग है, जिसमें मानवता का चरम विकास पाया जाता है।

ब्राह्मणत्व की विशेषताएँ

''ब्राह्मण–वर्ग की चिंता न आयु है, न प्राण, न पशु, न प्रजा, न धन और न कीर्ति। उसका प्रमुख लक्ष्य ब्रह्मवर्चस की प्राप्ति है, समष्टि दृष्टि से जो बुद्धितत्व 'द्यो' के रूप में सर्वत्र समाया हुआ है, सत् जो आलोक सर्वव्याप्त है, उसको पहचान लेना और उसके साथ अपने व्यष्टि बुद्धि तत्व को मिला देना अर्थात् धी योग को प्राप्त कर लेना, उसके ध्यान का चरम बिंदु है। यह स्थिति चिंतन और मनन से भी ऊपर की है।

ब्राह्मण चिंतनशील तो होता ही है, इससे भी ऊपर वह प्रकाश स्तंभ बनता है। ब्रह्म–तेज से युक्त होकर वह अपनी गतिशील स्थिति से चारों ओर की परिस्थिति को प्रभावित करता है। उसके संपर्क में आने वाले व्यक्ति इस प्रकाश का अनुभव करते हैं और इधर–उधर चलने के लिए उन्मुख होते हैं। दिव्यता का आविर्भाव और उसका प्रभाव ऐसा ही होता है। आर्य संस्कृति में इसे ब्राह्मी वृत्ति का संपादन कहा गया है। मनु ने इसकी प्राप्ति के लिए स्वाध्याय, व्रत, होम, त्रयी, विद्या, इज्या, सुत, महायज्ञ और यज्ञ रूप साधनों का वर्णन किया है। स्वाध्याय प्रवृत्त होकर वेद शास्त्रादि, ज्ञान–विज्ञान के ग्रंथों के अध्ययन में निरत रहना, व्रत रखना, उपवास आदि द्वारा इंद्रिय संयम को उपलब्ध करना, दैनिक अग्निहोत्र करना, ज्ञान–कर्म–उपासना रूप वेदत्रयी का आचरण, यज्ञों का करना, गृहस्थ धर्म का पालन, संतति का प्रसव, महायज्ञ, सर्वहुत तथा पंच महायज्ञों का करना और अंत में समग्र यज्ञ पूर्ण जीवन को यज्ञमय ही बना देना ब्राह्मणत्व प्राप्ति के साधन कहे गए हैं।''

प्राचीन काल में भारत में धार्मिक सरकार की व्यवस्था थी। यह सरकार कम से कम व्यय लेकर अधिक से अधिक जन सेवा, धार्मिक शिक्षण, जीवन–निर्माण और नैतिक स्तर ऊँचा उठाने का महत्वपूर्ण कार्य किया करती थी। ब्राह्मणों द्वारा यह धर्मतंत्र संचालित होता था। ब्राह्मणों के अनेक ऊँचे–नीचे पद–पदवियाँ निश्चित कार्य प्रणालियाँ कर्त्तव्य और अधिकार थे। छोटे कार्यकर्त्ताओं के ऊपर क्रमशः ऊँचे धार्मिक पदाधिकारी होते थे। छोटे पद पर कार्य करने वाले ब्राह्मणों का कार्य मंदिरों में जिज्ञासुओं के लिए सद्ज्ञान, उपदेश, धर्म–शिक्षा, नीति, तत्त्वज्ञान, सदाचरण, धर्म–ग्रंथों की जानकारी कराना था। वे स्वयं बड़े विद्वान, स्वाध्याय के प्रेमी, संयमी और प्राचीन ग्रंथों के ज्ञाता होते थे। उनके ऊपर मठाधीश, महंत इत्यादि बड़े अफसर होते थे, जो ऊँचे प्रश्नों पर विचार करते थे और धर्म तंत्र के संचालन में प्रमुख भाग लेते थे।

कार्य–प्रणालियों का निर्णय करना उन्हीं के हाथ की बात थी। मंदिरों में जो धन चढ़ाया जाता था, या भोजन खाद्य वस्तुएँ चढ़ावे के रूप में प्राप्त हो जातीं थीं, उन्हीं से इनकी उदरपूर्ति की समस्या का हल होता था। इसके अतिरिक्त बड़े मंदिरों के पास जो जमीन जायदाद इत्यादि थी, उसकी आय से वहाँ ठहरने वाले अतिथियों, अभ्यागतों का आतिथ्य बिना किसी पर अनुचित बोझ डाले चल सकता था।

तात्पर्य यह है कि हमारे मठ–मंदिर एक प्रकार से धार्मिक तंत्र के बँगले थे, जिसमें जनता के जीवन–निर्माण के सभी साधन आसानी से मिल जाते थे। ये ऐसी आदर्श संस्थाएँ थीं, जहाँ के रहने वाले समाज सेवक और धार्मिक पुरुष होते थे। इन्हीं के पथ–प्रदर्शन में नई पीढ़ी का निर्माण होता था। ये लोग केवल भोजन–वस्त्र लेकर समाज–कल्याण का कार्य

करते थे। पथिक और यात्री भोजन निवास की चिंताओं से मुक्त हो जाता था। लेकिन आज उस धर्म–तंत्र में विकार आ गया है। हम शिक्षण और निस्पृह कार्य करने की पद्धतियों को भूल गए हैं। समाज की सेवा तथा जनता के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने की ओर उनका ध्यान नहीं है। मंदिरों पर चढ़े हुए धन का भी प्रायः दुरुपयोग ही होता है। स्वयं ब्राह्मणों और पुरोहितों का बौद्धिक स्तर भी बहुत नीचे आ गया है। ये लोग दान–दक्षिणा, भोजन, वस्त्र इत्यादि तो उसी प्रकार ले रहे हैं। लेने में कोई कमी नहीं आई है, पर अपना निर्दिष्ट कार्य–लोक–शिक्षण नहीं कर रहे हैं। बैठे–बैठे खाते हैं। इनका जीवन आलस्यपूर्ण हो गया है। विलास ने इन्हें परास्त कर दिया है। 'बैठे रहो, काम न करो'' जैसी हड़ताल का ही एक रूप है। इनका यह रवैया सर्वथा अनुचित है। इन्होंने अपने ऐसे आचरण के कारण हमारी धार्मिक संस्था को तोड़ दिया है। हमें चाहिए कि इनके विरुद्ध जनमत ऊँचा करें। जनता को चाहिए कि इन पर जोर डालकर इनसे समाज–सेवा और धर्म प्रवचन का कार्य कराएँ, या इनसे यह स्थान छोड़ देने के लिए कहा जाए। आज ब्राह्मण के विकास तथा उसके द्वारा समाज की सेवा कराने की बड़ी आवश्यकता है। कहा गया है–

तत्त्वज्ञास्तु विद्वान्सो ब्राह्मणः स्वतपश्चयैः।
अन्धकार मया कुर्युर्लोकार ज्ञान सम्भवम्॥
गायत्री स्मृति

अर्थात् ''तत्त्वदर्शी विद्वान ब्राह्मण अपने तप द्वारा संसार के अज्ञानजन्य अंधकार को दूर करें।'

आज जो आलस्य और अकर्मण्यता का अंधकार फैला हुआ है, उससे समाज की प्रगति रुक गई है। हम दिशा भूल गए हैं। अवांछनीय विचार और कार्यों में हम उलझ रहे हैं। अज्ञान,

अशक्ति और अभाव फैले हुए हैं। ब्राह्मण ही अपने ब्राह्मणत्व का प्रसार कर हमें ठीक रास्ते पर लगा सकते हैं।

कर्मफल

भारतीय संस्कृति कर्मफल में विश्वास करती है। हमारे यहाँ कर्म की गति पर गहन विचार किया गया है और बताया गया है कि जो कुछ फल प्राप्त होता है, वह अपने कर्म के ही कारण होता है

''मनुष्या: कर्मलक्षण:''

अर्थात् ''मनुष्य का लक्षण कर्म ही है। मनुष्य को कर्म करना ही चाहिए। कर्म करते हुए ही वह मनुष्य बनता है।''

''स्वकर्म निरतो यो हि स यश: प्राप्यनुयान्महत्।''

महाभारत व.प. २१२–१९

''जो अपने कर्म में संलग्न है, वही बड़े भारी यश को प्राप्त करता है।''

''ध्रुव न नाशोऽस्तिकृतस्य लोके''

महाभारत व.प. २३७–२७

''संसार में किए हुए कर्म का कभी नाश नहीं होता।''

''य: क्रियावान् स पंडित:''

''जो कर्मपरायण हैं, वही वास्तव में पंडित है।''

भारतीय संस्कृति में चित्रगुप्त की कल्पना की गई है, जो पल–पल में मनुष्य के अच्छे–बुरे कर्मों का लेखा–जोखा करता रहता है। मृत्यु के उपरांत शुभ–अशुभ कर्मों के बल पर उसे स्वर्ग या नर्क में जाना होता है। इस अलंकारिक कथन में गहरी सत्यता है। गुप्त मन में हमारे सभी शुभ–अशुभ कार्यों की सूक्ष्म रेखाएँ अंकित होती रहती हैं। ये ही हमारी कर्म रेखा का निर्माण

करती हैं। कहा गया है ''कर्म रेख नहीं मिटे, करो कोई लाखन चतुराई।' कर्म की रेखाएँ बिना फल दिए नहीं रहतीं। पाप पुण्य के सभी कर्मों का फल अवश्य देर सवेर मिलता है।

कर्मों की तीन श्रेणियाँ मानी गई हैं। १–संचित, २–प्रारब्ध, ३–क्रियमाण। इन तीन प्रकार के कर्मों का संचय निरंतर हमारी संस्कार भूमि में होता रहता है। मनुष्य की अंतश्चेतना ऐसी निष्पक्ष, निर्मल, न्यायशील और विवेकवान योजना है, जो अपने पराए का भेद न कर सत्यनिष्ठ न्यायाधीश की तरह भले–बुरे कार्य का विवरण अंकित करती रहती है।

लाचारी में मन के विरुद्ध जो कार्य करने पड़े, उन्हें संचित कर्म कहा गया है। जो कार्य विवशता में दबाए जाने पर असहायावस्था में करने तो पड़ें, पर मन की आंतरिक इच्छा यही रहे कि यदि विवशता न होती, तो इस कार्य को कदापि न करते, ऐसी लाचारी में किए गए कर्मों को संचित कर्म कहते हैं। इन संचित कर्मों के संस्कार बहुत कमजोर एवं हलके होते हैं। इसलिए वे मनोभूमि में हजारों वर्षों तक किसी अज्ञात कोने में सिमटे हुए पड़े रहते हैं। यदि इन्हें प्रकट होने का कोई अवसर न मिले, तो यों ही दबे पड़े रहते हैं। यदि उन संचित संस्कारों को लगातार विपरीत स्वभाव के बलवान कर्म संस्कारों के साथ रहना पड़े, तो वे नष्ट भी हो जाते हैं। प्रख्यात विचारक और समाजशास्त्री श्री सोहनलाल मधुप के अनुसार–''हमारे भले और बुरे दोनों ही प्रकार के संचित कर्म, संस्कार अनुकूल परिस्थिति पाकर फलदायक होते हैं एवं तीव्र प्रतिकूल परिस्थितियों में नष्ट भी हो जाते हैं।'

प्रारब्ध उन मानसिक संचित कर्मों को कहते हैं, जो स्वेच्छापूर्वक जानबूझ कर तीव्र भावनाओं से प्रेरित होकर विशेष मनोयोग से किए जाते हैं। इसलिए इनके संस्कार बहुत बलवान

होते हैं। कर्म का परिपाक लेकर जब फल बनता है, तब वह प्रारब्ध कहा जाता है। साधारण कार्य तदवीर हैं। संचित कर्मों का फल मिलना संदिग्ध है, विरोधी परिस्थितियों से टकराकर वे नष्ट हो जाते हैं।

क्रियमाण कर्म शारीरिक हैं, जिनका फल प्रायः साथ साथ ही मिलता रहता है। जिन शारीरिक कर्मों के पीछे कोई मानसिक गुत्थी नहीं होती, केवल शरीर द्वारा शरीर के लिए ही किए जाते हैं, वे क्रियमाण कहलाते हैं।

इस प्रकार सब कर्मों का फल अवश्य मिलता है। कितने समय और कितने दिनों में फल प्राप्त होगा, इसके संबंध में कुछ नियत मर्यादा नहीं है। कर्म–फल आज, कल, परसों या जन्मों के अंतर से भी मिल सकता है, किंतु वह मिलेगा अवश्य, यह निश्चय है। पुरुषार्थ की अवहेलना से जो असफलता मिलती है, उसे कदापि प्रारब्ध फल नहीं कहा जा सकता। कष्टों का स्वरूप अप्रिय अवश्य है, उनका तात्कालिक फल कटु होता है, पर ईश्वर की लीला ऐसी है कि अंततः वे जीव के लिए कल्याणकर और आनंदमयी सिद्ध होते हैं।

भारतीय संस्कृति यह मानती है कि संसार में सत्, रज, तम तीनों का मिश्रण है, तीनों प्रकार की वस्तुएँ मौजूद हैं। स्वयं अपने स्वभाव, रुचि और गुणों के अनुसार हम वैसी ही वस्तुएँ प्रकृति से एकत्रित कर लेते हैं। अच्छाई–बुराई, कालापन–सफेदी, धर्म–अधर्म, पाप–पुण्य, सुख–दुःख आदि सब संसार में बिखरे पड़े हैं। अपने मानसिक आकर्षण से हमारा मस्तिष्क अपने स्वभावानुकूल तत्वों को प्रकृति से स्वतः खींच लेता है। अपनी मनोभावनाओं, रुचियों, गुप्त इच्छाओं को मनुष्य आमने–सामने वालों पर थोप देता है और उन्हें वैसा ही समझता है, जैसा कि वह स्वयं है। हर उन्नत आत्मा का यह कर्त्तव्य है कि

वह स्वयं आत्म–विकास करे, समाज से तमोगुण दूर करे, पापवृत्तियों को रोके और अच्छाइयों का, धर्म का, नीति और सत्य का प्रसार करे। अपने शुभ कर्मों द्वारा स्वयं उठे और साथ ही अपने आस–पास पवित्रता, उदारता, प्रेम, भ्रातृभाव, स्नेह, दया, गुण–दर्शन का वातावरण तैयार करे।

अध्यात्मवाद

भारतीय संस्कृति सर्वोपरि लाभ अध्यात्म में मानती है। अध्यात्म का महत्व संसार की महानतम वस्तुओं से ऊँचा है। उसका लाभ सृष्टि के समस्त लाभों से अधिक है। संसार में मनुष्य ने पशुत्व की कोटि से उठकर देवत्व की ओर जो प्रगति की है, आत्मा की अनंत शक्ति का जो भंडार खोला है, उसका कारण आध्यात्मिक उन्नति ही है।

''मैं पवित्र अविनाशी और निर्लिप्त आत्मा हूँ। ईश्वर का शक्तिशाली अंश हूँ। मुझ में वे सब दिव्य गुण और शक्तियाँ भरी पड़ी हैं, जो सृष्टिकर्त्ता ईश्वर में हैं।'' यह मान्यता भारतीय अध्यात्मवाद का आधार है।

भारतीय अध्यात्मवाद आपसे कहता है, ''ऐ अविनाशी शक्तिशाली आत्माओ! तुम शरीर नहीं हो, महान आत्मा हो। तुम्हें किसी प्रकार की अशक्तता का अनुभव नहीं करना है। तुम अनंत शक्तिशाली हो। तुम्हारे बल का पारावार नहीं है। जिन साधनों, जिन ताकतों को लेकर तुम पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए हो, वे अचूक ब्रह्मास्त्र हैं। तुम्हारी शक्तियाँ इंद्र–वज्रों से भी अधिक है। सफलता और आनंद तुम्हारे जन्म–जात अधिकार हैं। उठो, अपने आत्म–स्वरूप को, अपने हथियारों को भली–भाँति पहचानो और बुद्धि पूर्वक कर्त्तव्य मार्ग में जुट जाओ। फिर देखें, तुम कैसे

पीछे रहते हो। तुम कल्पवृक्ष हो। तुम पारस हो। तुम अमृत हो। तुम शरीर नहीं, जीव नहीं, मरणशील नहीं, वरन् आत्मा हो, परम आत्मा हो। तुम क्षुद्र वासना या इंद्रिय जन्य विकारों के गुलाम नहीं हो। आदतें तुम्हें बाध्य नहीं कर सकतीं। पाप या अज्ञान में इतनी शक्ति नहीं कि तुम्हारे ऊपर शासन कर सकें। तुम्हें अपने आपको दीन–हीन, नीच, पतित, पराधीन नहीं समझना है। हे महान पिता के महान पुत्रो! अपनी महानता को पहचानो। उसे समझने, खोजने में और प्राप्त करने में तत्परतापूर्वक जुट जाओ। तुम सत् हो। तुम चित् हो। तुम आनंद हो। अपनी वास्तविकता को अनुभव करो। स्वाधीनता का, मोक्ष का आनंद प्राप्त करो।'

भारतीय अध्यात्मवाद हमें आत्म–विश्वास करना सिखाता है। अपनी सत्ता को श्रेष्ठ, पवित्र, महान एवं विश्वसनीय अनुभव करना सिखाता है। हमारा योगशास्त्र पुकार–पुकार कर कहता है, ''जो समझता है कि मै शिव हूँ, वह शिव है। जो समझता है कि मैं जीव हूँ, वह जीव है। यदि अपने आपको महान बनाना चाहते हो, तो अध्यात्मवादियो, अपनी महानता को देखिए, अनुभव कीजिए और उसे द्रुतगति से चरितार्थ करना आरंभ कर दीजिए।'

आत्मा अजर–अमर है। जीव शरीर से भिन्न है। वह शरीर के साथ ही नहीं मर जाता, वरन् मृत्यु के उपरांत भी जीवित रहता है और नया शरीर ग्रहण करता है। हमारे वेद–शास्त्रों में तो इन मंतव्यों की पुष्टि करने वाले असंख्य प्रमाण भरे पड़े हुए हैं। जीवन उस दिन प्रांरभ हुआ, जिस दिन एक परमात्मा ने बहुत होने की इच्छा की। हम सबमें आत्मा का निवास है। सार्वभौम चैतन्य तत्व परमात्मा अविनाशी है, फिर उसका परमाणु नाशवान कैसे हो सकता है? जब तक सूर्य है,

तब तक गर्मी है। इसी प्रकार परमात्मा का अंश भी अमर रहेगा। मनुष्य की महानता उसकी आत्मिक महानता में ही है। एक सद्‌गुणी, विद्वान, बुद्धिमान, कुशल व्यक्ति की प्रतिष्ठा होती है, हर मोटे पेट वाले या गोरे चमड़े वाले निर्बुद्धि, दुर्गुणी, मूर्ख या पागल का कोई आदर नहीं करता। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कपड़े से शरीर का और इसी प्रकार शरीर से आत्मा का दर्जा ऊँचा है। भारतीय संस्कृति कहती है कि मनुष्यो! जीवन का मर्म समझो। जीवन की गूढ़ समस्या पर विचार करो। जीवन अखंड है, इस सत्य को समझो और हृदयंगम करो। सच्ची प्रगति उसी दिन होगी, जिस दिन वास्तविक जीवन को, अखंड जीवन को आप प्रधानता देंगे और उसी महान जीवन के हानि लाभ की दृष्टि से वर्तमान शरीर के संपूर्ण सिद्धांतों और कार्यों पर विचार करेंगे।

भारतीय संस्कृति में चार पुरुषार्थ माने गए हैं। १–धर्म, २–अर्थ, ३–काम और ४–मोक्ष। इन चारों का बड़ा ही विस्तृत और व्यापक अर्थ है। उस पर विचार कर लेना चाहिए। धर्म, अर्थ और काम तो तुरंत ही अर्जन करने योग्य हैं, क्योंकि इनका संबंध हमारे दैनिक जीवन से है। अंतिम पुरुषार्थ (अर्थात् मोक्ष) हमारे पहले तीनों कार्यों पर आधारित है।

प्रथम पुरुषार्थ ''धर्म'' है। धर्म शब्द का बड़ा व्यापक अर्थ है। इसमें हमारे वे सभी कर्त्तव्य सम्मिलित हैं, जो भिन्न–भिन्न धार्मिक, सामाजिक या नैतिक मान्यताओं से संबंध रखते हैं। प्रत्येक परिस्थिति में मनुष्य का क्या–क्या कर्त्तव्य होना चाहिए, यह सब धर्म शब्द के अंतर्गत आ जाता है। हमारे शास्त्रों में आचरण को भी शर्म में स्थान दिया गया है। धर्म उन उपयोगी सिद्धांतों का समूह है, जो हमारे दैनिक जीवन और समस्याओं का हल प्रस्तुत करते हैं। धर्म तो जगत को स्वर्ग बनाने वाले

समाज में से गरीबी और अज्ञान तथा शोषण का अंत करने वाले उत्साही व्यक्तियों के हाथ में ही सुरक्षित रह सकता है। धर्म दूसरी दुनिया के लिए इतना जरूरी नहीं है, जितना इसी जीवन और समाज के नैतिक जीवन और जागृति के लिए आवश्यक है। धर्म मनुष्य के विकास के लिए उपयोगी कर्त्तव्यों का समूह है। धर्म जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के लिए उपयोगी है।

धर्म आत्मा का गुण है। वह जिस पुण्य–पुरुष के अंतःकरण में प्रवेश करता है, उसे प्रकाश का पुंज बना देता है। वह भिखमंगा नहीं वरन् दानी होता है। विश्व उसके ऋण से ही दबा होता है। सच्चा धार्मिक पुरुष, जान बचाने के लिए धर्म पुस्तकों की आड़ नहीं ढूँढता, वरन् वह दूसरों के लिए दधीचि की तरह अपनी हड्डियाँ दे देता है और नारद की तरह दिन रात धर्म–प्रचार की रट लगाता हुआ घूमता है। व्यास की तरह आयु सद्ग्रंथों की रचना में लगा देता है। द्रोणाचार्य की तरह शस्त्र विद्या का प्रचार करता है। पाणनि की तरह व्याकरण बनाता है या परशुराम की तरह दुष्टों को दंड देता है और बुद्ध की तरह प्रेम और अहिंसा का उपदेश देता है। वह समय और देश की आवश्यकताओं की ओर देखता है और उन्हें ऊँचा उठाने में अपनी शक्तियाँ लगा देता है।

अर्थ (अर्थात् आर्थिक शक्ति) को छठवीं इंद्रिय कहा जा सकता है, कारण, रुपए से ही समाज में हमारी स्थिति और मान्यता रहती है, बड़ाई या छोटाई नापी जाती है। आज का युग रुपए को बड़ा महत्व देता है। हिंदू धर्म के अनुसार धन एक पवित्र शक्ति है। धन का व्यय शुभ सात्विक कार्यों में ही होना चाहिए और उसे ईमानदारी से ही कमाना चाहिए। हिंदू संस्कृति के अनुसार गृहस्थ आश्रम को सुखमय बनाने के लिए ''अर्थ''

शक्ति की जरूरत है, शेष आश्रम इसी गृहस्थ आश्रम के भरोसे रहते हैं। नित्य प्रति पंच यज्ञों का करना भी गृहस्थ का कर्त्तव्य माना गया है। इसलिए गृहस्थ का यह पुण्य कर्त्तव्य हो जाता है कि वह सत्य आचरण द्वारा सात्विक कमाई करे और स्वयं अपने तथा समाज के लिए कल्याणकारी कार्यों में उसका उपयोग करता रहे।

''काम'' का अर्थ है, कामना युक्त। काम का उदय मन में होता है। इसलिए काम को ''मनसिज'' कहा गया है। काम के दो भेद हैं, १–वासनाजन्य कामेच्छा, जिसकी पूर्ति विवाहित जीवन में होती है। २–भगवत् प्रेम, जिसकी पूर्ति ईश्वरोपासना में होती है और जो मुक्ति का कारण बनती है।

''काम'' संबंध भी एक पवित्र नैतिक उत्तरदायित्व पूर्ण धार्मिक कर्त्तव्य है। जब धर्माचरण की मर्यादा में रहकर एक पुरुष एक ही स्त्री से काम संबंध स्थापित करता है, तो संयम और मर्यादा का ध्यान रहता है। मनुष्य पग–पग पर अपने कर्त्तव्य, संतान से आने वाली असंख्य जिम्मेदारियों को सदा ध्यान रखता है। फलतः ''काम'' नियंत्रित रहता है। नियंत्रण से शक्ति–वृद्धि होती है। असंयमित काम को हेय समझा जाता है और व्यभिचार की संज्ञा दी जाती है। हमारी संस्कृति हमें सिखाती है कि गृहस्थ जीवन में संयम और इंद्रिय निग्रह का सदा ध्यान रखें और भगवद् भक्ति द्वारा अपनी वासना को निकालने के लिए कल्याण–कारी मार्ग प्रदान करें। इस प्रकार ऊँचे उठ कर ईश्वर की प्राप्ति में संलग्न हो जाएँ।

मोक्ष

भारतीय संस्कृति में मानव–जीवन की एक ऐसी स्थिति

की योजना है, जिसमें मनुष्य सुख–शांति की चरमावस्था को प्राप्त होता है, जहाँ इसके आत्म–तत्व को पूर्ण सुख संतोष की प्राप्ति हो जाती है। सब सांसारिक, सामाजिक और आर्थिक बंधनों से छुटकारा प्राप्त हो जाता है। यह मोक्ष की स्थिति में पहुँच जाने वाले को हर प्रकार का सुख प्राप्त हो जाता है और शारीरिक मानसिक या अन्य किसी प्रकार के विकार दुःखी नहीं करते। विषय, तृष्णा, द्वेष, लोलुपता, अभिमान, दंभ, लोभ, प्रतिशोध, प्रतिद्वंद्विता, दीर्घद्वेष, शठे–शाठ्य, झूठी निंदा, पीठ पीछे निंदा, असत्य भाषण, चोरी, धोखेबाजी, क्रूरता और डाह ये वे पैशाचिक मोहांध मनोवृत्तियाँ हैं, जो इस संसार में ही मनुष्य को नर्क की मनःस्थिति में डाले रहती हैं और अतृप्त रखती हैं। मोक्ष की मनःस्थिति में पहुंचकर मनुष्य इन राक्षसी बंधनों से मुक्त हो जाता है। इच्छाओं को अपनी मुट्ठी में रखने वाला साधक ही मुक्त है। मोक्ष की स्थिति में पहुँचकर मनुष्य इन वृत्तियों से ऊपर उठकर उन पर शासन करने लगता है।

भारतीय संस्कृति में मोक्ष प्राप्ति के तीन उपायों पर विशेष जोर दिया गया है। १–आत्म–कृपा, २–गुरु कृपा और ३–भगवत् कृपा। आत्म–कृपा के कारण ही गुरु कृपा व भगवत् कृपा की प्राप्ति सुलभ होती है। ''आत्म–कृपा'' का अर्थ है, आत्म–चेष्टा या अपना उद्यम, अपनी इच्छा–शक्ति का प्रयोग। महर्षि अष्टावक्र अपने अदम्य उत्साह, चेष्टा व कठोर तपस्या से आत्म–ज्ञान प्राप्त कर पूर्वज्ञानी महातपा ऋषि के नाम से संसार में प्रसिद्ध हुए हैं। जिस आत्म–ज्ञान की प्राप्ति के लिए अष्टावक्र जी ने जो कठिन तपस्या की थी, उसके उदय से मनुष्य के हृदय में सत्य–ज्ञान उद्‌भाषित होता है। ज्ञान, दर्शन की अंतरवाणी है। ''आत्मानंविद्धि'' अर्थात्– आत्मा को जानो, क्योंकि–

''आत्मनि खलु, अरे द्रष्टे, श्रुते,

मते, विज्ञात, इदं, सर्वविदितम्।''

अर्थात्, दर्शन, श्रवण, मनन इत्यादि के द्वारा आत्म–ज्ञान प्राप्त होने से सब प्रकार का ज्ञान मानव–चित्त में उद्‌भाषित होता है। आत्म ज्ञान परमात्मा के आनंद–रस–धन स्वरूप के ज्ञान से मनुष्य के सब भय का नाश भी होता है।

दार्शनिक भूलभुलैया

भारतीय दर्शन की मान्यताएँ सापेक्षित(संबंध रखने वाली) हैं अर्थात् वे परिस्थिति, काल, देश, पात्र इत्यादि विभिन्न स्थितियों को सामने रखकर बनाई गई हैं। यदि हम इन सिद्धांतों में कहीं–कहीं विरोध पाते हैं, तो वह केवल इसीलिए है कि यह परिस्थितियाँ और काल बदल गया है। इनका उपयोग करते समय परिस्थितियों और काल विशेष का ध्यान रखना चाहिए। यदि नेत्र मूँद कर हम इनका प्रयोग करने लगेंगे, तो हम अपने दार्शनिक सिद्धांतों से पूरा–पूरा लाभ उठा नहीं सकेंगे, अथवा गड़बड़ी, अनीति और अव्यवस्था उत्पन्न हो जाएगी।

उदारहण के लिए भाग्यवाद या ईश्वरेच्छा में हमारा विश्वास है। यदि कुछ अनिष्ट हो जाता है, तो हम प्रायः कहते हैं ''यही भाग्य में था''अथवा ''यही ईश्वर की इच्छा थी''। जब पूरा–पूरा प्रयत्न करने पर भी मनुष्य को अपने कार्य में असफलता या निराशा मिले, तो चित्त को शांत करने के लिए इनका उपयोग करना उचित है। इससे मन में कुछ शीतलता उत्पन्न होगी, किंतु यदि हम कोई अनुचित काम करते हैं या अपनी मूर्खता के कारण ह्रानि उठाते हैं, तो यह कहना कि यह तो भाग्यफल था या ईश्वर की इच्छा थी, उचित न होगा। यदि ऐसे गलत अवसरों पर हम इसका उपयोग करते हैं, तो हमारी

अल्पज्ञता ही है। परिस्थिति को सामने रख कर ही हमें उपर्युक्त दार्शनिक सिद्धांत का प्रयोग करना चाहिए।

एक दूसरा सिद्धांत है 'मैं ईश्वर हूँ'। वेदांत के इस सिद्धांत का केवल यह उपयोग है कि हम अपने अंदर ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा समझें, ईश्वरत्व का अर्थ है–सद्‌गुण, देवताओं जैसे गुण, दैवी संपदाएँ, अच्छाइयाँ। ये सभी हमारे चरित्र में भरी पड़ी हैं। हमें चाहिए कि उन्हीं का विकास उत्तरोत्तर करते रहें। सिद्धांत का प्रयोग पुरुषार्थ, उद्योग और परिश्रम से बचने के लिए भी किया जा सकता है। हम कह सकते हैं कि हमें तो सब कुछ ज्ञात है, हम तो स्वयं ईश्वर हैं, हमें सुधार की आवश्यकता नहीं है, आदि।

एक और सिद्धांत है ''पति–पत्नी दो शरीर एक आत्मा हैं''? दांपत्य जीवन को सुखी और पति–पत्नी को परस्पर संतुष्ट रखने के लिए यह अमूल्य स्वर्ण–सूत्र है। इससे अभिप्राय यह है कि पति–पत्नी अंत तक एक दूसरे के प्रेम–पाश में बँधे रहें, अलग न हों। पति दूसरी औरत के प्रति या नारी पर–पुरुष के प्रति भ्रष्ट होकर बहक न जाएँ। यदि पति मर जाए, या पत्नी मर जाए, दोनों में से एक अलग छूट जाए, तो उपर्युक्त सिद्धांत का प्रयोग छोड़ देना चाहिए। आखिर जीवन में कभी न कभी पृथकता तो होती ही है, सदा एक दूसरे का साथ नहीं चलता, उस स्थान पर चित्त को शांत करने और संतुलन बनाए रखने के लिए कह सकते हैं ''पति–पत्नी तो जल प्रवाह में बहने वाले लकड़ी के दो टुकड़ों की तरह हैं। प्रवाह वेग में बहते–बहते टुकड़े पास–पास आकर साथ–साथ कुछ दूर तक बहते जाते हैं। फिर अलग–अलग हो जाते हैं। इसी प्रकार जीवन साथी की मृत्यु पर शोक नहीं करना चाहिए। नाना जन्मों में हमारी आत्माएँ, नाना शरीर धारण करती रही हैं। कभी हम पति, तो

कभी पत्नी के रूप में शरीर लेकर आए हैं। न जाने पुराने जन्मों में हमारा किस–किस से नाता रहा है। अतः शोक करना व्यर्थ है। आदि।

हमारे यहाँ संतोषी बनने की शिक्षा दी जाती है। संतोषी बनने की योजना उस समय के लिए है जब पूरे प्रयत्न पर भी फल न मिले। जो व्यक्ति कुछ करता–धरता नहीं, वह यदि यह कहे कि मैं तो संतोष का अभ्यास कर रहा हूँ, तो यह उपहासास्पद ही होगा। परिस्थितियाँ ही जब हमें विवश कर दें, पुरुषार्थ करने के लिए स्थान ही न रहे, तो उस स्थिति में संतोष धारण करना उचित है। कठोर संघर्ष से भागने के लिए यह नियम नहीं बनाया गया है।

तात्पर्य यह है कि हिंदू संस्कृति के जो सिद्धांत आपको मिलें, उन्हें स्थान और परिस्थिति की अनुकूलता को याद रख– देश काल व पात्र का पूर्ण ध्यान रखते हुए ही उनका प्रयोग करना उचित है। ये सभी अपने–अपने स्थान पर ही सही हैं और आचरण में उतारने चाहिए।

आपद्धर्म का रहस्य

संकट काल में मृत्यु से बचने के लिए आर्यों ने प्रचलित धर्म और नीति में परिवर्तन करने का विधान किया है। हमारे यहाँ मनु महाराज ने कहा है–

विश्वैश्च देवैः साध्यैश्च ब्राह्मणैश्च महिर्षिभिः।
आपत्सु मरणाद्भीतैर्विधेः प्रतिनिधि कृतः॥

अर्थात् ''सब देवों, साध्यों, ब्राह्मणों और ऋषियों ने आपत्ति काल के समय मृत्यु से बचने के लिए धर्म के प्रतिनिधि इस आपद्धर्म की रचना की है।''

इसी नीति को वेदों में 'ऋत' कहा गया है। वेदों में 'ऋतञ्च सत्यञ्च' की भाँति ऋत प्रायः सत्य के साथ आता है, क्योंकि सत्य शुद्ध धर्म है और ऋत आपद्धर्म है।

धर्म संसार में मनुष्य की बुद्धि, भावना और श्रद्धा का सर्वोत्तम रूप है। ज्ञान और श्रद्धा के प्रकाश में, विशेषता भक्ति के सुलभ राजमार्ग से जितना भी हो सके अपने स्वधर्मानुसार कर्त्तव्य का पालन करते रहना चाहिए। निष्काम भाव से मरण पर्यंत अपने धार्मिक कर्त्तव्यों को निभाना चाहिए। इसी में मनुष्य का सांसारिक और पारलौकिक कल्याण है।

इस लोक की और परलोक की सारी संपदाएँ धर्म की धुरी से बँधी हुई हैं। धर्म का मार्ग ही श्रेष्ठतम है। धर्म संसार के महात्माओं के जीवन का सार है, नवनीत है। हर एक संत यही कहता है कि धर्म को अपनाओ। गीताकार ने जीवन को धर्म क्षेत्र, कुरूक्षेत्र की उपमा दी है। विकार, अन्याय, अनाचार से प्रतिक्षण युद्ध करना हमारा सहज स्वाभाविक धर्म है। विरोध और असहयोग का अस्त्र बुराई के मुकाबिले में हर वक्त ताने रहने का ईश्वरीय आदेश है।

धर्म एक सापेक्षित गुण है। मनुष्य का कर्त्तव्य विशेष परिस्थितियों में परिवर्तित होता चलता है। संसार में देश–काल में परिवर्तन के कारण भिन्न–भिन्न अच्छी–बुरी परिस्थितियाँ आती रहती हैं। इन नई परिस्थितियों में उसका कर्त्तव्य भी एक सा नहीं रहता। वह बदलता रहता है। बहुधा देखा जाता है कि एक परिस्थिति में जो धर्म है, वह दूसरी परिस्थितियों में पाप या अधर्म हो जाता है। अपने परिवार या बंधु–बांधवों का वध करना पाप है, किंतु महाभारत युद्ध की विशेष परिस्थितियों में अत्याचारी बांधवों का वध कर संसार से पापयुद्ध और विकार को दूर करना लोकहित की दृष्टि से उचित था। अतः धर्म को बदलना

पड़ा। उसी प्रकार जब रण क्षेत्र में कर्ण का पहिया कीचड़ में धँस गया था, तो उसने श्रीकृष्ण जी से ठहरने की विनती की, लेकिन उन्होंने फिर भी अर्जुन से कर्ण पर आक्रमण करने को कहा। कर्ण का वध कर दिया गया। फिर भी यह धर्म समझा गया। अनाचार और अत्याचार को दूर करने की दृष्टि से कर्ण का वध ही उचित था।

इसी प्रकार की अनेक परिस्थितियाँ आपके जीवन में उपस्थित होती हैं। उस समय यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि हमारा क्या धर्म है? हम क्या करें? क्या अनुचित है? यह निर्णय करना कठिन हो जाता है।

इस संबंध में साधारणतः यही कहा जाता है कि जब मनुष्य संकट में हो, घोर विपदा में हो, कष्ट के काले–काले बादल जीवन क्षितिज पर मँडरा रहे हों, तो जीवन धारण करने के लिए परिस्थितियों के अनुसार पुराने प्रचलित धर्म में कुछ परिवर्तन कर लेना चाहिए। अपने धर्म और कर्त्तव्य को नई विषम परिस्थितियों के अनुसार बदल लेना चाहिए।

यदि हम निश्चयात्मका बुद्धि को जाग्रत कर उन परिस्थितियों में अपने धर्म को सोचें, तो हमारा विवेक स्वयं हमसे कहेगा कि आखिर हम क्या करें? भौतिकता का पर्दा हटते ही उन विषम परिस्थितियों में हमें अपने कर्त्तव्य के दर्शन होने लगते हैं।

धर्म धारणा का साधन तन है। इस शरीर से ही धर्म की स्थापना होती है। कर्त्तव्यों का निर्वाह होता है। जब शरीर ही नहीं, तो धर्म, कर्त्तव्य, संसार आदि कुछ भी शेष नहीं रहता। अतः शरीर की रक्षा का सदा ध्यान रखना चाहिए। बाद में हमारे यहाँ शरीर शुद्धि का भी विधान है। जो आत्मतत्व को समझता है, वह पश्चात्ताप करता और यज्ञ द्वारा शरीर, मन

और आत्मा को शुद्ध कर सकता है।

यज्ञमय जीवन

यज्ञ भारतीय संस्कृति का आदि प्रतीक है। हमारे धर्म में जितनी महानता यज्ञ को दी गई है, उतनी और किसी को नहीं दी गई है। कोई भी शुभ कर्म–कृत्य या महत्त्वपूर्ण सामाजिक कर्म क्यों न हो, यज्ञ के बिना पूरा नहीं होता।

जन्म से लेकर अंत्येष्टि तक १६ संस्कार होते हैं, उनमें अग्निहोत्र आवश्यक है। जब बालक का जन्म होता है, तो उसकी रक्षार्थ सूतक निवृत्ति तक घरों में अखंड अग्नि स्थापित रखी जाती है। नामकरण, यज्ञोपवीत, विवाह आदि संस्कारों में हवन आवश्यक होता है। अंत में जब हिंदू का शरीर छूटता है, तो उसे अग्निदेव को ही समर्पित कर देते हैं। जब लोग मृत्यु के समय चिता जलाकर यों ही लाश को भस्म कर देते हैं, तो वे एक प्रकार का यज्ञ ही करते हैं और अंतिम अस्थियाँ वेद भगवान को ही सौंप देते हैं। इससे वेद मंत्रों से विधि पूर्वक आहुतियाँ चढ़ाई जाती हैं और शरीर को यज्ञ भगवान के अर्पण किया जाता है।

सभी साधनाओं में हवन अनिवार्य है। जितने भी पाठ, पुरश्चरण, जप, साधन किए जाते हैं, वे चाहें वेदोक्त हों, चाहें तांत्रिक, हवन उनमें किसी न किसी रूप में अवश्य करना पड़ेगा। गायत्री उपासना में हवन आवश्यक है। अनुष्ठान या पुरश्चरण में जप से दसवाँ भाग हवन करने का विधान है। परिस्थितिवश दसवाँ भाग आहुतियाँ न दी जा सकें, तो शतांश आवश्यक हैं। गायत्री को माता और यज्ञ को पिता माना गया है। इन्हीं दोनों के संयोग से मनुष्य का आध्यात्मिक जन्म होता है,

जिसे द्विजत्व कहते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों को द्विज कहते हैं। ''द्विज'' का अर्थ है दूसरा जन्म। जैसे शरीर को जन्म देने वाले माता पिता की सेवा पूजा करना मनुष्य का नित्य का कर्त्तव्य है, उसी प्रकार गायत्री माता और यज्ञ पिता की पूजा भी प्रत्येक द्विज का आवश्यक कर्त्तव्य है।

यज्ञ में लाभ ही लाभ है। साधारण रीति से किए हुए हवन में जो व्यय होता है, वह एक प्रकार से देवताओं की बैंक में जमा होता है और वह संतोषजनक ब्याज (यश, प्रतिष्ठा, दीर्घायु, सुख और शांति रूपों में) समेत लौटकर हमें आवश्यकता के समय मिलता है। विधिपूर्वक शास्त्रीय पद्धति से उपचारों एवं विधानों के साथ किए हुए हवन तो और भी महत्त्वपूर्ण हैं। ऐसे यज्ञ एक प्रकार के दिव्य अस्त्र हैं। दैवी सहायताएँ प्राप्त करने के अचूक उपचार हैं। यज्ञ समस्त ऋद्धि–सिद्धियों का पिता है। वेद में यज्ञ को ''कामधुक'' कहा गया है। वह मनुष्यों के अभावों को पूरा करने वाला और बाधाओं को दूर करने वाला है।

यज्ञ भारत की एक वैज्ञानिक विद्या है। पाँचों तत्त्वों का यज्ञ में एक वैज्ञानिक सम्मिश्रण होता है, जिससे एक प्रचंड दुर्धर्ष शक्ति का आविर्भाव होता है। यज्ञ की इस प्रचंड शक्ति को ***''द्विनासिक सप्त जिह्वा, उत्तर मुख, कोटि द्वादश, मूर्त्या, द्विपंचशत्कला युतम्''*** आदि विशेषणों से युक्त कहा गया है। इस रहस्यपूर्ण संकेत में यह बतलाया गया है कि यज्ञाग्नि की मूर्धा भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही है। इससे दोनों क्षेत्र सफल बनाए जा सकते हैं। स्थूल और सूक्ष्म प्रकृति यज्ञ की नासिका है। उस पर अधिकार प्राप्त किया जा सकता है, सातों प्रकार की संपदाएँ यज्ञाग्नि के हाथ हैं। वाम–मार्ग और दक्षिण मार्ग ये दो मुख हैं। सातों लोक जिह्वाएँ हैं। इन सब लोकों में जो कुछ भी विशेषताएँ हैं, वे यज्ञाग्नि के मुख में मौजूद हैं। उत्तर ध्रुव

का चुंबकत्व केंद्र अग्नि मुख है।

यज्ञ की ५२ कलाएँ ऐसी हैं, जिनमें से कुछ को प्राप्त करके ही रावण इतना शक्ति शाली हो गया था। यदि यह सभी कलाएँ उपलब्ध हो जाएँ, तो मनुष्य साक्षात अग्निरूप हो सकता है और विश्व के सभी पदार्थ उसके करतलगत हो सकते हैं। यज्ञ में वेदमंत्रों के साथ आहुति देने के अनेक सत्परिणाम होते हैं। जैसे १–यज्ञ से मनुष्य की आत्मा शुद्ध होती है और उसके चिरसेवित कुसंस्कार नष्ट होते हैं, २–मनोविकार घटते हैं। शुभ संकल्प एवं ब्रह्मतेज की गति तीव्र होती है, ३–यज्ञ करने से सद्बुद्धि तेज और भगवान की प्राप्ति होती है, ४–यज्ञ से मनुष्य को जो आध्यात्मिक आनंद मिलता है, वह अलौकिक है। उसे स्वर्ग सुख कहते हैं। यों यज्ञ के द्वारा अनेक कामनाओं की पूर्ति भी होती है, पर उसका मुख्य लाभ आत्म–कल्याण है।

यज्ञ से समस्त लोक निर्मल और सुंदर बनते हैं, यज्ञ से मनुष्य अमर होते हैं। यज्ञ से अनेक पापों से छुटकारा मिलता है तथा परमात्मा की प्राप्ति होती है। यज्ञ से मनुष्य निश्चित रूप से शांतिदायक शुभ सद्गति को प्राप्त होता है।

सादा जीवन उच्च विचार

मन की स्वच्छता के साथ हमारी संस्कृति में मानसिक संतुलन और प्रसन्नता को भी महत्त्व दिया गया है। जो व्यक्ति चित्त को प्रसन्न रखता है, वह मानसिक संतुलन का भी आनंद लेता है। श्रुतियों में लिखा है कि आनंद से ही प्राणियों का जन्म होता है।

'आनन्दादेव खल्विमानि भूतानि जायते।
आनन्देनजातानिजीवन्ति, आनन्दाभिप्रमन्त्यभिसंविशन्ति॥'

अर्थात् ''आनंद से ही सारे प्राणी उत्पन्न होते हैं, आनंद तत्त्व से ही वे जीवित रहते हैं, आनंद की ओर ही दौड़ते हैं और अंत में आनंद में ही समा जाते हैं।''

हमारी संस्कृति के जितने पुजारी मिलेंगे, सभी ही संतुलित मन तथा प्रसन्न वृत्ति वाले व्यक्ति रहे हैं। किसी भी हिंदू देवी–देवता का चित्र देखिए, प्रसन्नता से महकता हुआ मिलेगा। खिन्न मन होने से मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है, दूसरी ओर चित्त की प्रसन्नता से मन, शरीर और आत्मा पर बड़ा स्वास्थ्यप्रद प्रभाव पड़ता है। मन की विभिन्न शक्तियाँ इससे सतेज हो जाती हैं, चंचलता, विक्षेपवृत्ति दूर हो जाती है और बुद्धि अच्छी तरह सुस्थिर हो जाती है।

''प्रसन्न चेतसो ह्याशु बुद्धिपर्यवतिष्ठते''

गीता

प्रसन्नता मनुष्य के भाग्य की एक विशेष रचना है, जो सबमें समान है। मनुष्य अपने अज्ञान के कारण उससे वंचित रहता है। कोई अप्रसन्न रहता है, तो यह उसका दोष है। भारतीय संस्कृति तो यह मानती है कि ईश्वर ने प्रत्येक मनुष्य को प्रसन्न रहने के लिए उत्पन्न किया है। प्रसन्न मन से ही पूर्ण शांति और संतुलन रहता है। अतः भारतीय संस्कृति कहती है–

''भवोद्विग्नमना चैव हृदद्वेगं परित्यज।
कुरु सर्वास्ववस्थासु शान्त सन्तुलितं मनः॥''

अर्थात ''संसार के मनुष्यो! मानसिक उत्तेजनाओं को छोड़ दो और सभी अवस्थाओं में मन को शांत और संतुलित रखो।''

जैसे बुखार आने पर शरीर की गर्मी बढ़ जाती है और कुछ भी काम नहीं हो पाता, उसी प्रकार उद्वेग और आवेश,

उत्तेजना और आतुरता आदि लक्षण मानसिक ज्वर के हैं।

मानसिक संतुलित अवस्था मन की स्थिर बुद्धि संपन्न शांति संपन्न स्थिति है, जिसमें विवेक पूर्णरूप से जाग्रत रहता है। जैसे तराजू के दोनों पलड़े समान रूप से भारी होने के कारण डंडी को संतुलित रखते हैं, वैसे ही मन की पूर्ण संतुलित अवस्था में हम शांत रहते हैं। हमारा मस्तिष्क पूरे विवेक से काम करता है। चिंता और वासनाएँ पास नहीं फटकती।

विपत्ति पड़ने पर हम प्रायः चिंतित, शोकग्रस्त, भयभीत हो जाते हैं, घबराने लगते हैं, कायर बन जाते हैं। दूसरी ओर संपत्ति आने पर अहंकार, मद, मत्सर, अतिहर्ष, अतिभोग, ईर्ष्या, द्वेष आदि उत्तेजनाओं में फँस जाते हैं। यह दोनों उत्तेजनाएँ मनुष्य की आंतरिक स्थिति रोगियों और बालकों जैसी कर देती हैं। इससे कोई लाभ नहीं हो सकता। हानि ही हानि है। अतः इसे त्यागना ही उचित है।

हमारी संस्कृति हमें हर स्थिति में प्रसन्न रहने की शुभ प्रेरणा देती है। हमारे सब देवी–देवता प्रसन्न चित्त हँसते हुए हैं। उनके मुख से आह्लाद की शुभ किरणें निकलती रहती हैं। यह स्थिति तभी हो सकती है, जब मनुष्य गुप्त मन से घबराहट या बेचैनी की उलझनें निकाल डाले।

उत्तेजना से शारीरिक और मानसिक शक्तियों की भारी क्षति होती है। अनेक मानसिक बीमारियाँ हो जाती हैं। बाल झड़ने और सफेद होने लगते हैं, रक्त में विकार उत्पन्न हो जाता है और नई कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इसलिए हमारी संस्कृति हमें सदा प्रसन्न और संतुलित रहने का आदेश देती है।

कर्मकांड, परंपराएँ और पूजा पद्धतियाँ

मूर्ति–पूजा : चित्त एकाग्र करने का अमूल्य साधन

भारतीय संस्कृति में प्रतीकवाद का महत्वपूर्ण स्थान है। सबके लिए सरल सीधी पूजा–पद्धति का आविष्कार करने का श्रेय भारत को ही प्राप्त है। पूजा–पद्धति की उपयोगिता और सरलता की दृष्टि से हिंदू धर्म की तुलना अन्य संप्रदायों से नहीं हो सकती। हिंदू धर्म में ऐसे वैज्ञानिक मूलभूत सिद्धांत दिखाई पड़ते हैं, जिनसे हिंदुओं की कुशाग्र बुद्धि, विवेक और मनोविज्ञान की अपूर्व जानकारी का पता चलता है। मूर्ति–पूजा ऐसी ही प्रतीक पूजा पद्धति है।

मूर्ति–पूजा क्या है? पत्थर, मिट्टी, धातु या चित्र इत्यादि की प्रतिमा को मध्यस्थ बनाकर हम सर्वव्यापी अनंत शक्तियों और गुणों से संपन्न परमात्मा को अपने सम्मुख उपस्थित देखते हैं। निराकार ब्रह्म का मानस चित्र निर्माण करना कष्ट–साध्य है। बड़े योगी, विचारक, तत्त्ववेत्ता संभव है, यह कठिन कार्य कर दिखाएँ, किंतु साधारण जन के लिए तो यह नितांत असंभव सा है। भावुक भक्तों, विशेषतः नारी उपासकों के लिए तो किसी प्रकार मूर्ति का आधार रहने से उपासना में बड़ी सहायता मिलती है। मानस चिंतन और एकाग्रता की सुविधा को ध्यान में रखते हुए प्रतीक रूप में मूर्ति–पूजा की योजना बनी है। साधक अपनी श्रद्धा के अनुसार भगवान की कोई भी मूर्ति चुन लेता है और साधना करने लगता है। उस मूर्ति को देखकर हमारी अंतःचेतना ऐसा अनुभव करती है मानो साक्षात भगवान से हमारा मिलन हो रहा है। यद्यपि इस प्रकार की मूर्ति–पूजा में

भावना प्रधान प्रतिमा गौण है, तो भी प्रतिमा को ही यह श्रेय देना पड़ेगा कि वह भगवान की भावनाओं का उद्रेक और संचार विशेष रूप से हमारे अंतःकरण में करती है। यों कोई चाहे तो चाहे जब, चाहे जहाँ भगवान को स्मरण कर सकता है, पर मंदिर में जाकर प्रतिमा के सम्मुख अनायास ही जो आनंद प्राप्त होता है, वह बिना मंदिर में जाए और चाहे जब कठिनता से ही प्राप्त होगा। गंगा तट पर बैठकर जो पवित्र भावनाएँ उत्पन्न होती हैं, या मंदिर में बैठकर ईश्वरीय शक्तियों का जो चमत्कार मन में उत्पन्न होता है, वह अन्यत्र मुश्किल से ही हो सकता है।

मूर्ति पूजा के साथ–साथ धर्म मार्ग में सिद्धांतमय प्रगति करने के लिए हमारे यहाँ त्याग और संयम पर बड़ा जोर दिया गया है। सोलह संस्कार, नाना प्रकार के धार्मिक कर्मकांड, व्रत, जप, तप, पूजा, अनुष्ठान, तीर्थयात्राएँ, दान, पुण्य, स्वाध्याय, सत्संग ऐसे ही दिव्य प्रयोजन हैं, जिनमें मनुष्य में दिव्यता और व्यवस्था आती है। मन दृढ़ बनकर दिव्यत्व की ओर बढ़ता है। आध्यात्मिक नियंत्रण में रहने का अभ्यस्त बनता है।

आद्यगुरु शंकराचार्य जी का मत है कि जड़ (मूल) ही सबका आधार हुआ करती है। जड़ सेवा के बिना किसी का भी कार्य नहीं चलता। दूसरे के आत्मा की प्रसन्नतार्थ उसके आधारभूत जड़ शरीर एवं उसके अंगों की सेवा करनी पड़ती है। परमात्मा की उपासना के लिए भी उसके आश्रय स्वरूप जड़ प्रकृति की पूजा करनी पड़ती है। हम वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, प्रकाश आदि की उपासना से प्रचुर लाभ उठाते हैं, तब मूर्ति–पूजा से क्यों घबराना चाहिए? उसके द्वारा तो आप अणु–अणु में व्यापक चेतन सच्चिदानंद की पूजा कर रहे होते हैं। आप जिस बुद्धि को या मन को आधारभूत मान करके परमात्मा का अध्ययन कर रहे होते हैं, क्या वे जड़ नहीं हैं? परमात्मा भी जड़

प्रकृति के बिना कुछ नहीं कर सकता, सृष्टि भी नहीं रच सकता। तब सिद्ध हुआ कि जड़ और चेतन का परस्पर संबंध है। तब परमात्मा भी किसी मूर्ति के बिना उपास्य कैसे हो सकता है?

हमारे यहाँ मूर्तियाँ मंदिरों में स्थापित हैं, जिनमें भावुक जिज्ञासु पूजन, वंदन, अर्चन के लिए जाते हैं और ईश्वर की मूर्तियों पर चित्त एकाग्र करते हैं। घर में परिवार की नाना चिंताओं से भरे रहने के कारण पूजा, अर्चन, ध्यान इत्यादि इतनी अच्छी तरह नहीं हो पाता, जितना मंदिर के शांत स्वच्छ वातावरण में हो सकता है। अच्छे वातावरण का प्रभाव हमारी उत्तम वृत्तियों को शक्तिवान बनाने वाला है। मंदिर के सात्विक वातावरण में कुप्रवृत्तियाँ स्वयं फीकी पड़ जाती हैं। इसलिए हिंदू संस्कृति में मंदिर की स्थापना को बड़ा महत्व दिया गया है, जो उचित ही है।

कुछ व्यक्ति कहते हैं कि मंदिरों में अनाचार होते हैं। उनकी संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। उन पर बहुत व्यय हो रहा। अतः उन्हें समाप्त कर देना चाहिए। संभव है इनमें से कुछ आक्षेप सत्य हों, किंतु मंदिरों को समाप्त कर देने या सरकार द्वारा जब्त कर लेने मात्र से क्या अनाचार दूर हो जाएँगे? यदि किसी अंग में कोई विकार आ जाए, तो क्या उसे जड़मूल से नष्ट कर देना उचित है? कदापि नहीं। उसमें उचित परिष्कार और सुधार करना चाहिए। इसी बात की आवश्यकता आज हमारे मंदिरों में है। मंदिर स्वच्छ नैतिक शिक्षण के केंद्र रहें। उनमें पढ़े–लिखे निस्पृह पुजारी रखे जाएँ, जो मूर्ति–पूजा कराने के साथ–साथ जनता को धर्म–ग्रंथों, आचार शास्त्रों एवं नीति, ज्ञान का शिक्षण भी दें और जिनका चरित्र जनता के लिए आदर्श रूप हो।

चित्त शुद्धि का साधन–मूर्तिपूजा

मनुष्य का यह स्वभाव है कि जब तक वह यह जानता है कि कोई उसके कार्यों, चरित्र या विविध हाव–भाव, विचारों को देख रहा है, तब तक वह बड़ा सावधान रहता है। बाह्य नियंत्रण हटते ही वह शिथिल सा होकर पुनः पतन में बहक जाता है। मंदिर में भगवान की मूर्ति के सम्मुख उसे सदैव ऐसा अनुभव होता रहता है कि वह ईश्वर के सम्मुख है, परमात्मा उसके कार्यों, मंतव्यों और विचारों को सतर्कता से देख रहे हैं, अतः उसे चित्त शुद्धि में सहायता मिलती है। मूर्ति चित्त–शुद्धि के लिए प्रत्यक्ष परमेश्वर का प्रतिनिधत्व करती है। जिन भारतीय ऋषियों ने भगवान की मूर्ति की कल्पना की थी, वे मनोविज्ञान वेत्ता भी थे। उनके इस उपाय से भोली भावुक जनता की चित्तशुद्धि हुई। मनुष्य ने अपनी सात्विक प्रवृत्तियों, कला और सौंदर्यवृत्ति का सारा प्रदर्शन मंदिरों में किया है। मूर्ति में भगवान की भावना और अपनी श्रद्धा भर कर उन्होंने आत्म–विकास किया।

आचार्य बिनोवा भावे ने लिखा है कि मूर्ति न होती तो बगीचे में से फूल तोड़ कर मनुष्य केवल उसे अपनी नाक तक ही लगाता, किंतु सात्विक भावना से भर कर भगवान की मूर्ति पर फूल चढ़ा कर, जो कि फूल के लिए शायद सर्वोच्च स्थान है–मनुष्य ने अपनी गंध वासना संयत और उन्नत की। अपनी वासना को उन्नत, परिष्कृत और संयमित करने के लिए भगवान के समर्पण की युक्ति निकाली।

रामदास स्वामी ने एक स्थान पर लिखा है ***''देवाचें वैभव वाढ़वावें''*** (भगवान का वैभव बढ़ाओ)

अल्पज्ञ, अशक्त, अज्ञानी मनुष्य भला भगवान का वैभव

क्या बढ़ाएगा। वह महान है, स्वयं असीम शक्तियों का पुंज है। उधर हम रंक हैं, अशक्त हैं, अपनी शक्तियों में सीमित हैं। लेकिन इस उक्ति का तात्पर्य यही है कि हम ऐसे कार्य, ऐसी भावना प्रकट करें जो हमारे माध्यम से हमारे पिता परमेश्वर के महत्व को प्रकट करने वाले हों। परमेश्वर का वैभव बढ़ाने की कोशिश करने में हम स्वयं अपने जीवन को उन्नत कर लेते हैं, उसे ईश्वरीय शक्तियों से भर लेते हैं।

मंदिर में ईश्वर की कोई प्रतिमा स्थापित कर निरंतर उन्हें अपने कार्यों का दृष्टा मान कर हम जो सदाचरण करते हैं, अपने कर्त्तव्यों को पूर्ण करते हैं, भजन, पूजन, स्वाध्याय, प्रार्थना करते हैं, वही भगवान का वैभव बढ़ाने वाली बातें हैं। जिन विचारों या कार्यों से हमारा देवत्व प्रकट होता है, वे ही इस दुर्लभ मानव देह से करने योग्य कार्य हैं। वाणी से भगवान के दिव्य गुणों, अतुल सामर्थ्यों का गुण–गान करें, हाथों से पवित्र कार्य करें, ब्रह्म चिंतन, भजन गायन और अर्चन बुद्धि को शुद्ध बनाएँ, यही हमारे अहंकार को दूर कर सकता है और चित्त शुद्ध कर सकता है।

जब मूर्ति में हम भगवान की आस्था, श्रद्धा विश्वास को साथ स्थापित कर देते हैं, तो वही दिव्य सामर्थ्यों से पूर्ण हो जाता है। उसी पत्थर की प्रतिमा के सामने हमारा सिर अपने आप झुक जाता है। यह मनुष्य की श्रद्धा का ही चमत्कार है। इस मूर्ति के सामने निरंतर रहने से चित्त शुद्ध होता है और आत्मानुशासन प्राप्त हो जाता है। जीवन का चरम लक्ष्य होना चाहिए ईश्वर से तादात्म्य और इसी को मानना चाहिए परम पुरुषार्थ। मूर्ति–पूजा वह प्रारंभिक अवस्था है, जिसमें मनुष्य दिव्य गुणों के विकास की पहली सीढ़ी पर चढ़ता है। योगसूत्र में भगवान की व्याख्या ''रागद्वेषादि रहित पुरुष विशेषः'' की है।

इस प्रकार मूर्ति–पूजा करते–करते मनुष्य निरहंकार बनता है। जिस मूर्ति में वह जिन देवगुणों का आरोपण कर पूजा करने लगता है, कालांतर में वे ही उसके चरित्र में प्रकट होने लगते हैं। इस प्रकार मूर्ति–पूजा उपयोगी है और आवश्यक भी।

भारतीय संस्कृति के प्रतीक

यज्ञोपवीत

हिंदू धर्म में अनेक प्रतीकों का विधान है। हमारे अनेक देवी–देवता प्रतीक ही तो हैं, मूर्ति–पूजा का आधार यह प्रतीकवाद ही है। इसी प्रकार यज्ञोपवीत का भारतीय संस्कृति में सर्वोपरि स्थान है। इसे द्विजत्व का प्रतीक माना गया है। यज्ञोपवीत धारण करने का तात्पर्य यह है कि अब यह व्यक्ति मनुष्यता की जिम्मेदारियों को स्वीकार करता है और उन्हें पूरी तरह निभा रहा है। जनेऊ वही धारण कर सकता है, जो मनुष्यता, समाज तथा ईश्वर के प्रति अपने महान कर्त्तव्य पालन करने को तैयार है। यह कठोर कर्त्तव्यों एवं जिम्मेदारियों को जीवन भर निभाए चलने का प्रतीक है। हर पल मनुष्य को यह याद दिलाया करता है कि दायित्व को निभाने में किसी तरह की कमी न आ जाए।

यज्ञोपवीत के डोरे में भारतीय धर्माचारियों ने ऐसा तत्वज्ञान जोड़ दिया है जिसको अपनाने पर मनुष्य सच्चे अर्थों में 'मनुष्य बन सकता है।' स्थूल दृष्टि से देखने में ये कुछ डोरे मात्र हैं, पर सूक्ष्म दृष्टि से देखने में यह जिम्मेदारियों का हार है। दिव्य मंत्रों से संपन्न सूत्रों को माध्यम बनाकर हर समय कंधे पर धारण किए रहकर जितना अपने उत्तरदायित्व को स्मरण

रखना सुगम है, उसे बिना धारण किए सुगम नहीं है।

जिन उच्च भावनाओं के साथ वेदमंत्र के माध्यम से अग्नि और देवताओं की साक्षी में यज्ञोपवीत धारण किया जाता है, उससे मनुष्य के सुप्त मानस पर एक विशेष छाप पड़ती है। यह सूत्र यज्ञमय एवं अत्यंत पवित्र है। इसके धारण करने से मेरा शरीर पवित्र है। इसलिए इसे सब प्रकार की अपवित्रताओं से बचाना चाहिए। शारीरिक और मानसिक गंदगियों से इस दैवी पवित्रता की रक्षा की जानी चाहिए। यह भावना उस व्यक्ति के मन में उठती रहती है।

इस प्रकार मनुष्य यज्ञोपवीत धारण करने से यज्ञमय जीवन व्यतीत करने की आकांक्षा करेगा और प्रभु का आशीर्वाद उसे हर समय मिलता रहेगा। यज्ञोपवीत श्रेष्ठता का एक आवरण है, जिसको धारण कर लेने से मनुष्य पतन के गड्ढों से बच जाता है।

तिलक, माला, कंठी, पीतांबर

यज्ञोपवीत के समान ही हिंदू धर्म में तिलक, माला, कंठी, राम–नामी दुपट्टा, धोती या रूमाल इत्यादि धारण करना श्रेष्ठता का, पवित्रता का, उच्च भावनाओं का सत्संग करना है। मनोविज्ञान का यह अकाट्य निमय है कि मनुष्य अपने आपको जैसा बाहर से प्रदर्शित करता है, धीरे–धीरे वस्तुतः वह अंदर से वैसा ही होता भी जाता है। जैसा आवरण पहन लेते हैं, अपने को जैसे पवित्र बंधनों में बाँध लेते हैं, उसी को देखकर हम स्वयं और बाहर के व्यक्ति हमारे विषय में अपनी धारणाएँ बनाते हैं। लोकमन की दृष्टि से यदि कोई व्यक्ति अच्छा बन गया है तो उसे अपनी प्रतिष्ठा का सदा ध्यान रहता है। मन विचिलित

होकर कुमार्गगामी होने को तैयार हो जाता है, तब हमारी वेश–भूषा और लोक–लाज ही एक ऐसा बंधन सिद्ध होता है, जो हमें पतन के मार्ग से बचाता है।

जिस हिंदू ने तिलक, माला, कंठी, जनेऊ इत्यादि धारण कर रखा है, वह सदा उच्च जीवन से संपर्क बनाए रहता है। ऐसा व्यक्ति सबके सामने निर्भीकतापूर्वक मद्य, माँस का सेवन, जुआ, चोरी, व्यभिचार आदि कुकर्म करने में समर्थ न हो सकेगा। यदि फिर भी पशुत्व जोर मारेगा तो बहुत डरता–डरता छिपकर अल्प मात्रा में करेगा और अत्याचारी का कलंकित जीवन जीने से बच सकेगा और स्वस्थ्य, शांत और दीर्घ जीवन का आनंद उठा सकेगा। ये वे बाह्य उपकरण हैं, जिनके द्वारा हिंदुओं को श्रेष्ठता और द्विजत्व की शिक्षा मिलती रहती है। ये सब वे प्रतीक हैं, जो धारण करने वाले को कर्त्तव्यमय, धर्ममय, जीवन साधना और संयम का स्मरण कराते रहते हैं। जो व्यक्ति तिलक लगाए हुए है, या राम नाम का तौलिया शरीर पर धारण किए हुए है, उसे पवित्र मार्ग से विचलित होते हुए झिझक लगेगी, वह सोचेगा कि 'मैं जब अपने ऊपर ये श्रेष्ठ चिह्न धारण किए हुए हूँ, तो कुमार्ग पर जाते हुए देखकर मुझ जैसे सज्जन को दुनिया क्या कहेगी?' माला और कंठी पहन कर मनुष्य पाप या कुमार्ग से प्रायः रुक जाएगा। ये वे दिव्य अंकुश हैं, जो हमें पवित्रता की ओर, द्विजत्व की जिम्मेदारियों की ओर खींचते हैं। मन को धार्मिक, कर्मकांड, तप, सत्संग की ओर प्रभावित करते रहते हैं।

यदि आप इन साधनों का चमत्कार देखना चाहते हैं, तो एक राम नाम का तौलिया खरीद लीजिए, गंगा तट पर स्नान कर उसे धारण कीजिए, माथे पर तिलक, गले में कंठी और हाथ में माला लेकर जप कीजिए, आप आश्चर्य से देखेंगे कि

आपका मन पशुता और असुरत्व से घृणा करने लगेगा, स्वार्थ, मिथ्याचार, हिंसा, अभक्ष पदार्थों के सेवन, आहार–विहार, मैथुन इत्यादि से स्वतः आपको घृणा हो जाएगी। द्विजत्व और पवित्रता की ओर आपकी आत्मा बढ़ेगी। गिरते हुए आप संभल जाएँगे। व्यभिचार, कुकर्म, जुआ, चोरी, मद्य, माँस सेवन से आप बच जाएँगे। इस प्रकार श्रेष्ठता और पवित्रता के आचरण या प्रतीक को धारण करने से दैवी शक्तियाँ हमारे सद् संकल्पों को दृढ़ करती हैं, नई प्रेरणा और साहस देती हैं और गिरे हुए शरीर और आत्मा को उठाती हैं। इससे मन में उच्च मार्ग के प्रति ललक उपस्थित हो जाएगी।

स्थूल दृष्टि से ये प्रतीक साधारण प्रतीत होते हैं, पर उनके अंदर जो सूक्ष्म महत्व छिपा हुआ है, वह भुक्तभोगी ही समझ और अनुभव कर सकता है। जिस तरह मिलिट्री का बैज या तमगा जैसे पदक धारण कर लेने से मनुष्य में बहादुरी, श्रेष्ठता और महानता की भव्य भावनाएँ भर जाती हैं, वैसे ही इन तिलक, छापे, कंठी, जनेऊ इत्यादि से मनुष्य आदर्शपूर्ण, धर्ममयी सत्परिणामों को उत्पन्न करने वाली वृत्तियों से भर जाता है। उसमें अपनी पवित्रता,श्रेष्ठता, धर्ममयता के प्रति आत्म–विश्वास उत्पन्न हो जाता है। वह भीतरी–बाहरी दोनों प्रकार की पवित्रता से भर जाता है। माला जप में हमारी सहायक होती है। प्रत्येक माला में १०८ दाने रखने का विधान है। इन्हीं पर सभी मंत्रों का जाप किया जाता है। अंगिरा स्मृति में कहा गया है–

''बिना दर्भेश्च यत्कृत्य यच्चदान विनोदकम्।
असङ्ख्यया तु यज्ञप्तं तत्सर्वं निष्फलं भवेत॥''

अर्थात्–बिना कुशा के जो सतत् धर्मानुष्ठान और बिना जल संस्पर्श के जो दान तथा बिना माला संख्या ही जो जप किए जाते हैं, वे सब निष्फल होते हैं।

माला की सहायता से जाप करने के कई प्रत्यक्ष लाभ हैं। इससे यह सरलता से ज्ञात हो जाता है कि हमने मंत्रों के कितने जाप किए हैं। फिर अँगूठे और अँगुली के संघर्ष से एक विलक्षण विद्युत उत्पन्न होती है, जो धमनी के तार द्वारा सीधी हृदय–चक्र को प्रभावित कर मन को तुरंत ही निश्छल कर देती है। माला के इन १०८ दानों का विशुद्ध वैज्ञानिक रहस्य है। प्रो. अवधूत के शब्दों में वह इस प्रकार है–

१–प्रकृति विज्ञान की दृष्टि से विश्व में प्रमुख रूप से कुल सत्ताईस नक्षत्रों को मान्यता दी गई है तथा प्रत्येक नक्षत्र के चार चरण ज्योतिष शास्त्र में प्रसिद्ध हैं। सत्ताईस को चार चरणों से गुणा करने पर एक सौ आठ संख्या होती है। ब्रह्मांड में सुमेरु (जो माला के दानों के अतिरिक्त ऊपरी भाग में पृथक होता है) की स्थिति सर्वोपरि मानी गई है। अतः माला में भी सुमेरु का स्थान सर्वोपरि ही रखा जाता है तथा उसका उल्लंघन नहीं किया जाता।

२–दिन–रात में मनुष्य मात्र के श्वाँसों की संख्या इक्कीस हजार छः सौ वेद शास्त्रों में दी गई है। इस हिसाब से दिन भर में श्वाँस १०८०० हुए तथा रात भर में श्वाँसों की संख्या १०८०० ही हुई। जप प्रमुख रूप से दशांश ही किया जाता है, जिसका फल सामान्य रूप से सौ गुना बताया गया है। अतः प्रातः, सायं की संध्या में १०८–१०८ जप किया जाता है।

३–ज्योतिष शास्त्र में समस्त विश्व ब्रह्मांड को १२ भागों में विभाजित किया गया है। जिन्हें ''राशि'' की संज्ञा प्रदान की गई है तथा प्रमुख रूप से ९ ग्रह माने गए हैं। अतः १२ राशि तथा ९ ग्रह का गुणनफल १०८ होता है।

४–सृष्टि का मूल है ब्रह्म, जो कि निर्गुण, निर्विकार,

नित्य, सत्य एवं एकत्व युक्त है। उससे उत्पन्न अव्यक्त में इस गुण के अतिरिक्त आवरण शक्ति का प्राधान्य है, जिससे उसका स्वभाव दो प्रकार का हो ही जाता है। इससे आगे महत् है, जिससे उपर्युक्त दो गुणों के अतिरिक्त विक्षेप शक्ति का समावेश भी है। फलतः यह त्रिगुणात्मक हुआ। अहंकार ब्रह्म का चतुर्थाकार है, जो तत्वों के आधिक्य और पूर्ववर्ती पदार्थ के तीन गुणों के भी धारण करने से चार गुणों वाला हुआ। इस प्रकार हिंदू संस्कृति में माला के १०८ दाने अपना–अपना पृथक महत्व रखते हैं। सभी मंत्रों का जाप इन्हीं पर करने का विधान है, जो विशुद्ध वैज्ञानिकता से परिपूर्ण है।

शिखा का महत्व और लाभ

भारतीय संस्कृति में शिखा हिंदूत्व की प्रतीक है, कारण कि इसे धारण करने में अनेक शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक लाभ है। शिखा स्थान मस्तिष्क की नाभि है, इस केंद्र से उन सूक्ष्म तंतुओं का संचालन होता है, जिनका प्रसार समस्त मस्तिष्क में हो रहा है और जिनके बल पर अनेक मानसिक शक्तियों का पोषण ओर विकास होता है। इस केंद्र स्थान से विवेक, दृढ़ता, दूरदर्शिता, प्रेमशक्ति और संयम शक्तियों का विकास होता है। ऐसे मर्मस्थान पर केश रखने से सुरक्षा हो जाती है। बालों में बाहरी प्रभाव रोकने की शक्ति है। शिखा स्थान पर बाल रहने से अनावश्यक गर्मी–सर्दी का प्रभाव नहीं पड़ता। उसकी सुरक्षा सदा बनी रहती है।

शिखा से मानसिक शक्तियों का पोषण होता है। जब बाल नहीं काटे जाते, तो एक नियत सीमा पर पहुँचकर उनका बढ़ना बंद हो जाता है। जब बढ़ना बंद हो गया हो तो केशों की

जड़ों को बाल बढ़ाने के लिए रक्त खर्च करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। बचा हुआ रक्त उन पाँच शक्तियों का पोषण करने में खर्च होता है, जिससे उनका पोषण और विकास अच्छी तरह होता है। इससे मनुष्य विवेकशील, दृढ़ स्वभाव, दूरदर्शी, प्रेमी और संयमी बनता है।

वासना को वश में रखने का एक उपाय शिखा रखना है। बाल काटने में जड़ों में एक प्रकार की हलचल मचती है। यह खुजली मस्तिष्क से संबद्ध वासना तंतुओं से उतरकर मेरुदंड से नीचे जाती है। फलस्वरूप वासना भड़कती है। इस दृष्टि से परिचित होने के कारण ऋषि–मुनि केश रखते हैं और उत्तेजना से बचते हैं।

बालों में एक प्रकार का तेज होता है। यह शक्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि चाणक्य ने शिखा को हाथ में लेकर अर्थात् दुर्गा को साक्षी बनाकर नंद वंश के नाश की प्रतिज्ञा की थी और वह अंततः पूरी हुई थी। शक्ति रूपी शिखा को श्रद्धा पूर्वक धारण करने से मनुष्य शक्ति संपन्न बनता है। हिंदू धर्म, हिंदू राष्ट्र, हिंदू संस्कृति की ध्वजा इस शिखा को धारण करना एक प्रकार से हिंदुत्व का गौरव है। शिखा के निचले प्रदेश में आत्मा का निवास योगियों ने माना है। इस प्रकार इस स्थान पर शिखा रूपी मंदिर बनाना ईश्वर प्राप्ति में सहायक होता है।

मनुष्य शरीर पर जो बाल हैं, वे भी छिद्र युक्त हैं। आकाश से प्राण वायु खींचते हैं, जिससे मस्तिष्क चैतन्य, पुष्ट और निरोग रहता है। सिर के बालों का महत्व अधिक है, क्योंकि वे मस्तिष्क का पोषण करने के अतिरिक्त आकाश से प्राण वायु खींचते हैं।

अनुष्ठान काल में बाल कटाना वर्जित है। किसी प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिए बाल कटाना वर्जित है। इसका कारण यह है कि बाल रखाने से मनोबल की वृद्धि होती है और दृढ़ता आती है। संकल्प पूर्ण करने का मार्ग सुगम हो जाता है। मनोबल की वृद्धि के लिए शिखा आवश्यक है।

प्राचीन काल में जिसे तिरस्कृत, लज्जित या अपमानित करना होता था, उसका सिर मुड़ा दिया जाता था। सिर मुड़ा देने से मन गिर जाता है और जोश ठंडा पड़ जाता है। नाड़ी तंतु शिथिल पड़ जाता है। यदि अकारण मुंडन कराया जाए, तो उत्साह और स्फूर्ति में कमी आ जाती है।

सिख धर्म में शिखा का विशेष महत्व है। गुरु नानक तथा अन्य सिख गुरुओं ने अपने अध्यात्म बल से शिखा के असाधारण लाभों को समझ कर अपने संप्रदाय वालों को पाँच शिखाएँ अर्थात् पाँच स्थानों पर बाल रखने का आदेश दिया है।

शिखा को सिर स्थान पर धारण करना धार्मिकता या आस्तिकता को स्वीकार करना है। ईश्वरीय संदेशों को शिखा के स्तंभ द्वारा ग्रहण किया जा सकता है। शिखाधारी मनुष्य दैवी शुभ संकेतों को प्राप्त करता है और ईश्वरीय सन्निकटता सुगमतापूर्वक सुनता है। शिखा हिंदुत्व की पहचान है, जो सदा अंत समय तक मनुष्य के साथ चलती है। इस प्रकार विवेकशील हिंदू को सिर पर शिखा धारण करनी चाहिए।

तीर्थयात्राएँ और धार्मिक मेले

भारतीय संस्कृति में ''तीर्थ'' शब्द बड़ा व्यापक और गहन अर्थों वाला है, भारतीय तत्त्वज्ञानियों ने इस शब्द का प्रयोग कई अर्थों में किया है। ''तीर्थ'' शब्द का प्रयोग आत्मिक

विकास और आध्यात्मिक उन्नति के लिए नाना वर्गों और पहलुओं के लिए किया गया है। ''तीर्थ'' पवित्रता का द्योतक है। त्याग, तपस्या, परोपकार और उच्च प्रवृत्तियों के विकास का संबंध तीर्थ से है। धार्मिक स्थानों में केवल मनोरंजन मात्र के लिए घूमना–फिरना तीर्थ करना नहीं है। तीर्थ का उद्देश्य आत्म–सुधार है। तीर्थों में भगवान का ज्ञान देने वाले और काम, क्रोध, लोभमुक्त साधु संग होता है, भगवत्प्राप्ति होती है। तीर्थों में कौन मिलते हैं, इसका उल्लेख पद्मपुराण के पातालखंड में इस प्रकार किया गया है–

''स हरिर्ज्ञायते साधुसंगमात् पापवर्जितात्।
येषां कृपातः पुरुषा भवन्त्य सुख वर्जिता॥
ते साधवः शान्तरागाः कामलोभविवर्जिताः।
ब्रुवन्ति यन्महाराज तत् संसारनिवर्तकम्॥
तीर्थेषु लभ्यते साधु रामचन्द्रपरायणः।
यद्दर्शन नृणां पापराशिदाहाशुशुक्षणिः
तस्मात् तीर्थेषु गन्तव्यं नरैः संसारभीरुभिः।
पुण्योदकेषु सततं साधुश्रेणिराजिषु॥''

अर्थात्–तीर्थों में उन भगवान का, उनके स्वरूप, तत्त्व, गुण, लीला, नाम आदि का, ज्ञान होता है। हम तीर्थों में निवास करने वाले पाप रहित साधु–सत्संग में सांसारिक दुःख से छूट जाते हैं।

साधु (वे नहीं हैं, जो केवल नामधारी हैं और मन से साधु नहीं है) तो वास्तव में वे हैं, जिनकी लोक–परलोक के विषयों में कोई रुचि नहीं रह गई है, जिनके पास मन में कोई संकल्प नहीं है तथा जो लोभ रहित हैं, अर्थात् जो अनासक्त हैं। धन और स्त्री से किसी प्रकार का मानसिक संपर्क नहीं रखते हैं। ऐसे साधु तीर्थों में रहते हैं। उनके उपदेशों से संसार का बंधन

छूट जाता है और भगवत्प्राप्ति हो जाती है। तीर्थों में निवास करने वाले ऐसे साधुओं के दर्शनों से मनुष्यों की पाप–राशि जल जाती है। इसलिए संसार–बंधन से छूटने के लिए पवित्र जल वाले तीर्थों में, जो सदा साधु–महात्माओं के सहवास से सुशोभित रहते हैं, जाना चाहिए।

हमारे यहाँ तीर्थ यात्राओं का बड़ा महात्म्य है। जब तक वृद्धजन तीर्थयात्रा कर पुण्य प्राप्त नहीं कर लेते, तब तक उनकी मुक्ति नहीं होती। बद्रीनाथ, रामेश्वर तथा द्वारिका आदि चारों धाम, सात पुरी, सात ज्योतिर्लिंगम तथा अनेक सर, सरिता, वन, उपवन आदि हमारे यहाँ के प्रमुख तीर्थों में आते हैं, जिनका दर्शन, निवास, स्नान, भजन, पूजन, अर्चन, करने में प्रचुर पुण्य लाभ माना गया है। प्रश्न उठता है कि इसका क्या कारण है?

तीर्थयात्रा का धार्मिक, नैतिक, स्वास्थ्य संबधी, व्यावहारिक, व्यापारिक एवं ज्ञानवर्द्धक आदि सभी प्रकार का महत्व है। अन्य सब लाभों से पूर्व हम धार्मिक दृष्टि से देखें। मनुष्य पर वातावरण का सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। हम जहाँ जिस वातावरण में निवास करते हैं और उन स्थानों के विषय में लोक–मानस की जो–जो मान्यताएँ होती है, वैसा ही प्रभाव स्वतः हमारे अंतर्मन पर पड़ता रहता है। तीर्थों के साथ युगों से असंख्य मनुष्यों की शुभ सात्विक पवित्र भावनाएँ, शुभ विचार, अच्छी कल्पनाएँ संयुक्त हैं। प्रत्येक हिंदू ऐसा मानता आया है कि तीर्थ स्थल पर रहने से मन की समस्त अपवित्रता, गंदगी, पाप, पतन, मन और शरीर के मैल धुल जाते हैं और सत्यनिष्ठा, पवित्रता, प्राणिमात्र के लिए आत्मीयता, सद्भावना, सात्विकता और दिव्य गुण स्वभाव एवं कार्य में आ जाते हैं। मनुष्यों की इस दृढ़ और व्यापक पवित्र विचारधारा का सामूहिक प्रभाव यह पड़ता है कि हिंदू

तीर्थों में एक आध्यात्मिक पवित्रता का वातावरण बन गया है। पवित्रता हमारी आत्मा का एक गुण है। आत्मा स्वतः अपने उपयुक्त साफ, स्वच्छ और पवित्र वातावरण की इच्छा करती है। आस्तिकता के पवित्र वातावरण में रहने में ही उसे सच्चा सुख मिलता है। अतः तीर्थस्थानों में जाकर हमारी आत्मा के गुण निखर उठते हैं। पवित्रता, सात्विकता और सद्व्यवहार विकसित होने लगते हैं। जैसे–जैसे हम तीर्थों में अधिक दिनों तक निवास करते हैं, वैसे–वैसे अपने ही हमारे छल–कपट, अहंकार, पाप, द्वेष, विषय–विकार, क्रोध, लोभ–मोह, स्वार्थ–परता आदि विकार मलीन पड़ जाते हैं। आप हरिद्वार, मथुरा, वृंदावन, काशी, प्रयाग आदि किसी भी तीर्थस्थान पर रहिए। गंगा, यमुना किसी में भी स्नान कीजिए, हमारा दावा है कि आपकी शारीरिक मानसिक, आर्थिक, सामाजिक, व्यावहारिक, पवित्रताएँ अपने आप उभर आएँगी। आप कदापि मलिनता से संबंध नहीं रख सकेंगे। असुरत्व स्वतः फीका पड़ जाएगा और देवत्व निखर उठेगा। यदि आप उद्विग्नता में फँसे रहते हैं, तो वह गंगा जी के शीतल जल में स्नान करने से छूट जाएगी। रिश्वतखोरी, चोरबाजारी, चोरी, दगाबाजी एवं अनीति करते हुए आपको अपने आप पर लज्जा आएगी। जुआ, व्यभिचार, कर्कशता, निष्ठुरता, स्वार्थपरायणता, धूर्तता आदि का कोई कार्य करते हुए आपको मानसिक दुःख पहुँचने लगेगा। यह सब तीर्थस्थलों में युग–युग से व्याप्त सर्वांगीण पवित्रता के शुभ वातावरण का ही प्रभाव है। यदि आप चिंतित हैं, मानसिक विक्षोभ या उत्तेजना के शिकार हैं, तो तीर्थ के सुख–शांतिमय वातावरण में मानसिक शांति प्राप्त होगी। आत्मा पर जो विकार सांसारिकता के कारण जम गए हैं, वे स्वतः छूट जाएँगे। तीर्थयात्रा करने से मनुष्य की आध्यात्मिक पवित्रता की वृद्धि होती है। सात्विक और

दिव्य विचार मन में ठहरने लगते हैं। सांसारिकता से लगाव हट जाता है।

जब आप गंगा या जमुना जी में स्नान करते हैं, तो आपके मन में यह भाव रहता है कि मैं पवित्र बन रहा हूँ। शारीरिक स्वच्छता के साथ मेरे मन में पवित्रता आ रही है। मैल और विकार से मेरा संबंध छूट रहा है। मेरी चैतन्यता, जागरूकता, सुरुचि और सात्विकता में वृद्धि हो रही है। इस शुभ चिंतन का आध्यात्मिक प्रभाव यह होता है कि हमारे चरित्र में सात्विकता,आस्तिकता का समावेश होता है और गंदगी से बच कर संयमपूर्वक जीवन व्यतीत करने की प्रवृत्ति हो जाती है।

प्रत्येक तीर्थ उत्तम आध्यात्मिक वातावरण का केंद्र है। उनमें प्रायः अच्छे विचार वाले विद्वानों, महात्माओं, ऋषियों, मुनियों, ज्ञान–पिपासुओं का निवास होता है। शुभ संदेश, व्याख्यान, स्वाध्याय, कीर्तन, भजन, पूजन चलते रहते हैं। असंख्य मंदिर रहते हैं। ये सभी पवित्रता की ओर ले जाने वाले हैं, मनुष्य में देवत्व का विकास करने वाले हैं। ऐसे सात्विक वातावरण में निवास करने से एक बार तो पापी भी पुण्यात्मा बन जाता है। इंद्रिय भोगों से दूर हट जाता है। उसमें त्याग–प्रवृत्ति ऊँची उठ आती है और वह ब्रह्म चिंतन की ओर चलने लगता है। उसे ''जगन्मिथ्या, ब्रह्म सत्य'' प्रतीत होने लगता है।

अपनी संचित गंदगी को बाहर फेंक देने के लिए तीर्थ यात्राओं का बड़ा ही अच्छा विधान है। हिंदू तत्त्वज्ञानी चाहते हैं कि वर्ष के कुछ दिनों आप तीर्थों के पुण्य प्रेरक शुभ वातावरण में निवास करें अपने शारीरिक एवं मानसिक विकारों को बाहर फेंक दें। पूरी सफाई कर डालें। अपने अंदर ईश्वरत्व को प्रतिष्ठित करें और इस प्रकार नए रूप में संसार के कार्यों में प्रवृत्त हों। तीर्थ यात्रा कर लेने वाले के साथ देव–शक्तियों का

साथ बना रहता है। दैनिक जीवन में पवित्रता के साथ उसमें व्यावहारिक और सामाजिक पवित्रता भी आ जाती है। स्वाध्याय, ब्रह्मचिंतन, सद्भावना, सात्विकता और दिव्य विचार उसमें सदा बने रहते हैं।

स्वास्थ्य, दीर्घजीवन और यौवन स्थिर रखने की दृष्टि से तीर्थ यात्राएँ अतीव उपयोगी हैं। जलवायु, उत्तम स्वास्थ्य, दर्शनीय स्थल, प्राकृतिक सुषमा आदि को दृष्टि में रखकर भारतीय तत्त्वदर्शियों ने तीर्थों की स्थापना की है। जिन–जिन सरिताओं का जल और आस–पास की वायु स्वास्थ्य के लिए विशेष उपयोगी हैं, उन्हीं के तटों पर तीर्थों का विधान है। स्वर्ण, पारा, गंधक तथा अभ्रक जैसे स्वाथ्योपयोगी खनिज पदार्थ हमारे गंगाजल में जाते हैं, जिसके प्रयोग से उदर, चर्म और अनेक रक्त विकार दूर हो जाते हैं। कुष्ठ रोग तक गंगाजल से दूर हो जाता है। अन्य धार्मिक सरिताओं के जलों में भी उपयोगी तत्व मिलते हैं।

हमारे तीर्थ रमणीय स्थानों पर रखे गए हैं, जिनमें पैदल चल कर जाने का बड़ा पुण्य माना गया है। अनेक पर्वतीय स्थल ऊँची–नीची भूमि, वन, सरिताओं–तटों पर पैदल चलने से वायु परिवर्तन भी हो जाता है और शरीर सुगठित हो जाता है, नाड़ी समूह तथा माँस पेशियाँ बलबान हो जाती हैं। पैदल चलने से स्वप्नदोष, प्रमेह, शीघ्र पतन, बहुमूत्र आदि दूर हो जाते हैं। इस प्रकार प्राकृतिक संसर्ग से शारीरिक रोगों से छुटकरा मिल जाता है।

जो व्यक्ति लंबी दूरस्थ तीर्थ–यात्राएँ नहीं करते, उन्हें समीप के मंदिरों की ही परिक्रमा का विधान है। कहीं–कहीं तो पेट के बल दंडवती परिक्रमा का पुण्य माना गया है। इसका एक स्वास्थ्यमय पहलू भी है। जो साधक दंडवती परिक्रमाएँ करते

हैं, उन्हें आँत रोग नहीं होते, तिल्ली और जिगर मजबूत बनते हैं। पहाड़ों पर चढ़ने से हड्डियाँ सबल बनती हैं और जोड़ों का दर्द, गठिया इत्यादि जाता रहता है। पहाड़ों पर रहने से यों भी स्वास्थ्य अच्छा रहता है। कंधे पर गंगाजल की काँवर रख कर शिवरात्रि पर यात्रा का विधान भी स्वास्थ्य स्थिर रखने का एक उपाय है।

देशाटन और ज्ञानवृद्धि का लाभ भी कुछ कम नहीं है। नए शहर, नए प्रांत, नए वातावरण में रहने से मनुष्य की ज्ञानवृद्धि होती है। हम नए प्रकार के मनुष्यों, नए स्वभाद, विचार, व्यवहार, रहन–सहन, परिपाटी, अर्थ, नीति, विश्वास, कार्यक्रम का अध्ययन करते हैं। इस प्रकार धर्म की वृद्धि के साथ मनोरंजन और बौद्धिक उन्नति भी बहुत होती है। हमें अनेक कठिनाइयों का भी सामना करना पड़ता है। ठग, दुष्ट या चोरों से भी सावधान रहना पड़ता है। इससे हमारी चेतना, जागरूकता, सतर्कता एवं विवेचन शक्तियाँ बढ़ती हैं।

व्यापारियों के लिए तीर्थ अच्छे व्यापार के साधन सुलभ करते हैं। तीर्थों पर अनेक प्रकार के समृद्ध महानुभाव पधारते हैं। वे दुष्प्राप्य वस्तुओं को भी सरलतापूर्वक खरीद लेते हैं। कोई न कोई कला–प्रदर्शनी, सभा–सम्मेलन, अभिनय आदि भी चलता ही रहता है। अतः आगंतुकों को सब प्रकार की सुविधाएँ अनायास ही प्राप्त हो जाती हैं।

हमारे अधिकांश तीर्थों का संबंध ऐतिहासिक या पौराणिक महापुरुषों से भी है। इन्हीं स्थलों पर उन्हें प्रकाश मिला था। स्वयं तीर्थ करने वाला भी ऐसा अनुभव करता है, जैसे उसे उन महापुरुषों से आज भी बल, प्रेरणा, साहस और प्रकाश मिल रहा हो। आज भी अनेक तीर्थों पर बहुत से आत्मबल वाले सिद्ध पुरुषों का सत्संग मिल जाता है। उनके निवास से वहाँ का

वातावरण शांतिदायक बन जाता है, उनका आत्मतेज समस्त वातावरण में फैला रहता है। वस्तुतः वहाँ के वातावरण में सिद्धि, स्वास्थ्य और शांति प्रदान करने वाले आत्मतत्व प्रचुरता से भरे रहते हैं जिनमें निवास कर आत्मकल्याण के इच्छुकों को असाधारण सफलताएँ प्राप्त होती हैं। कभी, कभी तो ऐसे अप्रत्याशित लाभ देखने को मिलते हैं कि ईश्वर की गुप्त शक्ति पर दृढ़ निष्ठा जम जाती है।

हिंदू तीर्थों को इस प्रकार विभिन्न स्थानों पर रखा गया है जिससे यात्री को संपूर्ण भारत भ्रमण का अवसर प्राप्त हो जाए। भूगोल और देश की सारी संस्कृति से उसका परिचय हो जाए। वह विभिन्न वेशभूषा, आचार–व्यवहार, रहन–सहन, आचार–विचार, रंग–रूप के भारतवासियों से मिल लें और एकता की ग्रंथि से बँध जाएँ। भारत की सात पवित्र पुरियाँ हैं– १–अयोध्या, २–मथुरा, ३–हरिद्वार, ४–काशी, ५–कांचीवरम्, ६–उज्जैन, तथा ७–द्वारिका। ये भारत के विभिन्न भागों में स्थित हैं। इसी प्रकार हमारे प्रसिद्ध १२ ज्यातिर्लिंग इस प्रकार हैं–१–सोमनाथ, २–त्रयंबकेश्वर, ३–ओंकारेश्वर ४–महाबलेश्वर, ५–केदारनाथ, ६–विश्वनाथ, ७–वैद्यनाथ, ८–रामेश्वर, ९–मल्लिकार्जुन, १०–नागनाथ, ११–घृषणेश्वर, १२–भीमशंकर। जो पथिक इन सब तीर्थों की यात्रा करेगा वह अनायास ही सारा भारत देख लेगा, कूपमंडूक न रहेगा। ज्ञान–वृद्धि की दृष्टि से भी तीर्थयात्रा महत्वपूर्ण है। इस प्रकार तीर्थयात्रा करने से हर प्रकार का लाभ है।

''तीर्थ'' शब्द उच्चता और पवित्रता का द्योतक है। अपने व्यापक अर्थ में तीर्थ के अंतर्गत वे सब प्रकार के कार्य आते हैं, जिनसे मनुष्य की व्यक्तिगत और सामूहिक उन्नति हो सकती है। जैसे ''स्कंदपुराण'' में ''तीर्थ''शब्द की विस्तृत व्याख्या

करते हुए कहा गया है कि–

''सत्यं तीर्थ, क्षमा तीर्थ, तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूतदया तीर्थं तीर्थमार्जव मेव च॥''

''सत्य तीर्थ है, क्षमा करना तीर्थ के समान फलदायक है। इंद्रियों पर नियंत्रण करना तीर्थ के समान उपकारी है। सब प्राणियों पर दया करना तीर्थ के समान पुण्य देने वाला है और सरल जीवन भी तीर्थ ही समझना चाहिए।

'दान तीर्थ दमस्तीर्थ संतोषस्तीर्थमुच्यते।
ब्रह्मचर्य परं तीर्थं तीर्थ च प्रियवादिता॥''

''दान तीर्थ है, मन का संयम तीर्थ है। संतोष भी तीर्थ कहा जाता है। ब्रह्मचर्य परम तीर्थ है और प्रिय वचन बोलना भी तीर्थ है॥'

''ज्ञानं तीर्थ धृतिस्तीर्थ तपस्तीर्थमुदाहृतम।
तीर्थानामपि तत्तीर्थ विशुद्धिर्मनसः परा॥''

''ज्ञान तीर्थ है, धैर्य तीर्थ है, तप को भी तीर्थ कहा जाता है। तीर्थों में सबसे श्रेष्ठ है, अंतःकरण की अत्यंत विशुद्धि।'

चित्त के भीतर यदि दोष भरा है, तो वह तीर्थ स्नान से शुद्ध नहीं होता। जैसे मदिरा से भरे हुए घड़े को ऊपर से जल द्वारा सैकड़ों बार भी धोया जाय, तो भी वह पवित्र नहीं बनता, उसी प्रकार दूषित अंतःकरण वाला मनुष्य तीर्थ स्नान से शुद्ध नहीं होता। भीतर का भाव शुद्ध न हो तो दान, यज्ञ, तप, तीर्थ–सेवन, शास्त्र–श्रवण और स्वाध्याय ये सभी अतीर्थ हो जाते हैं।

तीर्थों में सुधार की आवश्यकता

तीर्थों का प्रयोजन सात्विक संयमित और पवित्र जीवन को प्रोत्साहित करना है। तीर्थों का वातावरण ऐसा पवित्र होना

चाहिए कि मन प्रसन्न हो, आत्मा तृप्त हो और चित्त की शुद्धि हो। वहाँ जाकर तप, त्याग, दान, तितीक्षा, भगवत्स्मरण, पूजन आदि द्वारा सद्‌गुणों का विकास करना और विकृतियों से मुक्ति का उपाय करना चाहिए। सांसारिकता से मुक्ति मिलनी चाहिए। स्वच्छता एक दैवी गुण है। जो यात्री तीर्थों में जाएँ, उन्हें चाहिए कि किसी प्रकार की भी गंदगी न फैलाएँ। शौचादि से निवृत्त होने के लिए दूर जाएँ, घर, नगर, घाट और धर्मशालाओं आदि को स्वच्छ रखें। वस्त्र धोने का कार्य दूर रखें जिससे पीने या स्नान के जल में गंदगी न फैलने पाए।

पंडा पुरोहित प्रायः यात्रियों से अनुचित लाभ उठाने, बलपूर्वक दान लेने की कोशिश करते हैं। उनमें कभी–कभी ठग और पाखंडी भी मिले रहते हैं। उन्हें रोकने का प्रयत्न होना चाहिए।

मंदिरों में चढ़ाई जाने वाली धन–संपत्ति का उपयोग सर्व जन हितकारी कार्यों में होना चाहिए। निस्वार्थ, सेवाभावी, निर्लोभ, विद्वान, सच्चे सदाचारी एवं सहृदय पंडा पुरोहितों से ही संपर्क होना चाहिए। दान देते समय सुपात्र तथा कुपात्र का विवेक कर लेना चाहिए। उन्हें भी चाहिए कि यात्रियों को अतिथि देव के रूप में मानकर उसकी समुचित सेवा और सहायता करें। जो कुछ भी सेवा संस्थाएँ हो, वे यथा संभव सहायता करें। अनुचित लाभ लेने वालों से रक्षा करें। मंदिरों में एकत्रित होने वाली भीड़ पर नियंत्रण भी प्रेमपूर्ण आग्रह से ही किया जाए। महिलाओं को नियंत्रण करने में केवल महिलाएँ ही प्रबंध करने वाली रहें।

तीर्थों का लाभ विद्वानों का सत्संग है। सच्चे विद्वान ब्राह्मणों को तीर्थों में ऐसे आश्रम स्थापित करने चाहिए, जहाँ जिज्ञासुओं की शंकाओं का समाधान हो सके और उच्च जीवन के लिए नव प्रेरणा मिल सके। हर तीर्थ का विस्तृत परिचय देने

वाली पुस्तकें सस्ते मूल्य पर उपलब्ध होनी चाहिए।

देव मंदिरों में वेजीटेबिल घी, विदेशी वस्त्र, चर्बी की मोमबत्ती आदि अपवित्र पदार्थों का उपयोग न किया जाए। यात्रियों के लिए तीर्थ हर दृष्टि से उपयोगी बन सकें, ऐसी शिक्षण शालाएँ खुलनीं चाहिए। पैदल तीर्थ–यात्रा को प्रोत्साहन मिलना चाहिए, जिससे स्वास्थ्य सुधार हो सके।

जो महानुभाव जनता जनार्दन की सेवा में अपना जीवन व्यतीत करना चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि वे धर्मशालाओं के अध्यक्ष बनें या निःस्वार्थ सेवा का व्रत धारण करें। ऐसा प्रयत्न करें कि यात्री से किसी प्रकार दबाव डालकर कुछ न लिया जाए। यात्रियों को ठहरने, स्नान, पूजा आदि करने और भोजन के साथ चिकित्सा आदि की भी सुविधाएँ प्राप्त हो सकें। धर्मशालाओं, मार्गों, मंदिरों, घाटों के समीप दौने, मल–मूत्र थूक आदि न डाला जाए। स्वच्छता हमारे तीर्थों का एक महत्वपूर्ण गुण होना चाहिए, जिससे स्वास्थ्यप्रद वायु–मंडल और स्वच्छ वातावरण बना रहे।

तीर्थों में मानवता की वृद्धि करने वाले अध्यात्म मार्ग या ऊँचा उठाने वाले गुणों की वृद्धि को निरंतर प्रयास चलते रहना चाहिए। यज्ञ, तप, दान, श्राद्ध, तर्पण, पिंडदान, व्रत, उपवास आदि अपने–अपने सामर्थ्य के अनुसार करते रहना चाहिए। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप यमों और शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रविधान रूप नियमों का पालन विशेष रूप से करना चाहिए। भोगों से मन को हटाते हुए वैराग्य द्वारा मन और इंद्रियों को वश में करना, कीर्तन, स्वाध्याय द्वारा ज्ञान अर्जन और मौन द्वारा आत्मबल वृद्धि करनी चाहिए।

कथा कहने और सुनने की पद्धति

भारतीय संस्कृति में कथा कहने और सुनने का बड़ा महत्व माना गया है। हमारे यहाँ पुराण, उपनिषद, महाभारत, भागवत, रामायण आदि के साथ संयुक्त छोटी–छोटी अनेक उपदेश कथाएँ हैं। प्रायः हिंदू व्रत, त्यौहारों के अवसरों पर इन्हें कहने का विशेष महात्म्य माना गया है। प्रत्येक कथा कहानी का निर्माण किसी उद्‌देश्य विशेष को सम्मुख रख कर किया गया है। वृद्ध सज्जन प्रायः इन्हें बच्चों का सुनाया करते हैं, जिससे हिंदू बालकों में बचपन से ही सात्विक संस्कार जम जाते हैं। सत्य बोलना, वचन का पालन करना, कठोर परिश्रम से सिद्धि, दृढ़ संकल्प की महत्ता, दानशीलता, प्रेम, सहानुभूति, सेवा और सहयोग, पतिव्रत या पत्नीव्रत, न्यायशीलता आदि को स्पष्ट करने के लिए भारतीय ऋषियों ने बड़ी सुंदर बोधगम्य कहानियों का निर्माण किया है। आज भी ये बोध कथाएँ अनेक स्थानों पर सुनी और सुनाई जाती हैं।

कथा कहने वाला और सुनने वाला दोनों ही पुण्य के भागीदार माने गए हैं। जब कोई व्यक्ति उपदेश प्रधान कल्याणकारी कथा कहता है, तो कुछ देर के लिए उसकी मानसिक भूमि में समग्र कल्याणकारी विश्व–हितकारी भावनाएँ और विचारों का एक वातावरण बनता है। कुछ देर के लिए वह स्वयं कथा के पात्रों के साथ घुल–मिलकर तादात्म्य प्राप्त कर लेता है। उसका अलग कोई व्यक्तित्व नहीं रह जाता। इसलिए वे सद्‌गुण उसके ऊपर जादू जैसा प्रभाव डालते हैं। संगति का व्यापक प्रभाव होता है। देव–पूजा, देव–आराधना से संयुक्त इन पवित्र गाथाओं को सत्संग में कहने तथा सुनने वाले की आत्मा शुद्ध होती है, उनके ऊपर समाज के कुसंस्कार नष्ट हो जाते हैं

मनोविकार घटते हैं और कथाओं के शुभ संकल्प मजबूत बनते हैं।

प्रत्येक हिंदू धार्मिक कथा का गुप्त तात्पर्य आत्म–कल्याण है, इसी में पवित्र विचारों को सर्वत्र प्रधानता दी गई है। इनमें ऐसे–ऐसे रोचक तत्व भरे पड़े हैं कि सुनने वाला बड़ी उत्सुकता से कथा को सुनता जाता है। स्त्रियाँ तो इसमें बेहद दिलचस्पी लेती हैं। वास्तव में यह हिंदू ऋषियों के मस्तिष्क के चमत्कार ही हैं, जिनमें ज्ञान, उपदेश, भक्ति, दान, तप, कर्म की सद्शिक्षाएँ भरी पड़ी हैं। मनुष्य के असुरत्व को घटाकर उसमें देवत्व की, न्याय की, सतोगुण की, धर्मपक्ष की प्रवृत्ति उत्पन्न करना, ठीक दिशा में कदम आगे बढ़ना और सत्य से लड़ना या उसका विरोध करने के लिए सदा तत्पर बनना, यह इन कथाओं का उद्देश्य है।

इस पद्धति से अच्छा कल्याणकारी वातावरण उत्पन्न होता है। नारियों के चरित्र–निर्माण में इनका विशेष महत्व है। आवश्यकता इस बात की है कि इन सब धार्मिक लोक कथाओं को एकत्रित कर इनके सस्ते सुलभ संस्करण तैयार कराए जाएँ और स्कूलों में इनका व्यापक प्रचार किया जाए। इनकी भाषा सरल और बोधगम्य रखी जाए, जिससे हमारे ग्रामीण भाई भी इन्हें आसानी से समझ सकें।

हमारे पुराणों में जो छोटी–छोटी कथाएँ हैं, उनमें भारतीय संस्कृति का खजाना छिपा हुआ है। अनेक प्रकार के उच्चकोटि के उपदेश ज्ञानसूत्र, प्रतीक, उपयोगी तत्व इनमें भरे पड़े हैं। हमारे पुराणों में हमारे उन पूर्वजों की यशोगाथाओं का संग्रह है, जिनसे हमारा संस्कारों और रक्त का संबंध है। वे स्वभावतः हमें प्रिय हैं। उनका प्रभाव केवल हमारे मस्तिष्क पर ही नहीं, हृदय पर भी पड़ता है। यदि हम पुराणों की कथाओं को ही सुनाएँ, तो

उन अलौकिक कथाओं के साथ ऐसी कथाएँ भी सुनने को मिलती हैं, जो हमारे अंधकारमय जीवन में प्रकाश उत्पन्न करती हैं और इतिहास की कसौटी पर भी सत्य उतरती हैं। पुराण स्वयं अपने पाठकों की त्रुटियों को पहचानते और शंकाओं का समाधान करते हैं। उनकी कथाओं को कह और सुनकर जो आनंद और उच्च जीवन के लिए प्रेरणा मिलती है, वह वर्णनातीत है। पौराणिक गाथाएँ तो हमारे वे भंडार हैं, जिनमें छोटी से छोटी वस्तु से लेकर बड़ी से बड़ी वस्तु तक एक स्थान पर सरल ढंग से सजा कर रख दी गई है। हम उनके एक मात्र अधिकारी हैं। फिर यदि हम उनकी उपेक्षा करते हैं, तो यह हमारा दुर्भाग्य ही है।

भारतीय संस्कृति में देववाद

परमात्मा की नाना शक्तियों के प्रतीक

भारतीय संस्कृति में नाना देवी–देवताओं का विधान है। ईश्वर वह तत्व है, जिससे इस विस्तृत प्रकृति का कार्य नियम पूर्वक चलता है सूर्य, चंद्र, पृथ्वी, ग्रह, नक्षत्र सब अपना–अपना निर्धारित कार्य पूरी नियमितता से करते हैं, तनिक भी अंतर नहीं पड़ता। दिन, रात या मौसमों, बचपन, यौवन, वृद्धावस्था आदि सभी के क्रम ठीक–ठीक तरह चलते रहते हैं। ईश्वर की ये कृतियाँ पुकार–पुकार कर अपने निर्माताओं की साक्षी दे रही हैं।

ईश्वर तत्व केवल निर्माण या पालन कर्त्ता ही नहीं है,

उसके नाना गुण हैं, नाना शक्तियाँ हैं। ईश्वर की निर्माण करने वाली शक्तियाँ को पृथ्वी, जल, वायु, तेज, आकाश आदि पाँच भूतों के नाम से पुकारा जाता है। इनसे जड़ पदार्थों की रचना होती है। जड़ और चेतन इन दो भागों में सृष्टि विभक्त है। चेतन प्राणियों में जीवन बनाए रखना, उन्नति करना तथा आनंद भोगना– ये चेतन सृष्टि के तीन गुण हैं, जिन्हें सत्, चित्, आनंद नाम से पुकारते हैं। जड़–जगत की रचना पंच भूतों की क्रियाशीलता है, वैसे ही चेतन–जगत की मूल प्रकृति सत्, चित्, आनंद तत्वों के कारण से है। जड़ और चेतन दोनों ही पक्षों की रचना करने वाले यह पृथक–पृथक तत्व मूल रूप से एक ही ईश्वर तत्व की धाराएँ हैं। ईश्वर तत्व हर एक स्थान पर व्याप्त है, अणु–अणु में व्याप्त है, पर जहाँ, सत्य, विवेक, सदाचरण है, वहाँ ईश्वर–तत्व विशेष रूप से विद्यमान है। धर्मात्मा, मनस्वी, उपकारी, विवेकवान और तेजस्वी व्यक्तियों में ईश्वर तत्व की अधिकता के कारण ही उन्हें अवतार कहा जाता है। ईश्वर तत्व लाभप्रद है। मानव तथा पशु समाज दोनों के लिए समान रूप से कल्याणकारी है। इसी को हम यों भी कह सकते हैं कि जो पशु या प्राणी कल्याणकारी तत्वों से भरे हुए हैं, उन्हें ईश्वर तत्व के अधिक समीप मानना चाहिए।

कम बुद्धि वाले व्यक्तियों को ईश्वर जैसी आद्य बीजशक्ति के भेद–विभेदों को समझाना कठिन है। एक ही स्थान पर इतने प्रकार के तत्व कैसे रह सकते हैं? इस गुप्त भेद को समझाने के लिए भारतीय अध्यात्मवेत्ताओं ने साधना के सरल मार्ग निकाले हैं। साधना में ध्यान–योग प्रधान है। मनोविज्ञान के अनुसार ध्यान उसी वस्तु का हो सकता है, जो स्थूल हो, जिसे हम अपनी पाँचों इंद्रियों (विशेषतः नेत्रों) से अनुभव कर सकें। शब्द, रूप, गंध, स्पर्श में ध्यान के लिए रूप का स्थान सर्वोपरि

है। जिसे हम अपनी आँख से देख सकें, उस पर हम अपना ध्यान देर तक जमाए रह सकते हैं। आचार्यों ने मनोविज्ञान के उपर्युक्त मर्म को ध्यान में रखते हुए ईश्वर के रूप की कल्पना की है। चूँकि साधना करने वाले मनुष्य के रूप को ही सबसे श्रेष्ठ समझते हैं, ईश्वर के लिए उन्नतिशील मनुष्य के रूप की ही कल्पना की गई है। राम, कृष्ण, विष्णु, शिव, गणेश, दुर्गा, सरस्वती, लक्ष्मी आदि मनुष्य रूपधारी नाना शक्तियों की प्रतिमाएँ बनाई गई हैं। इन भिन्न–भिन्न ईश्वरीय प्रतिमाओं को हम देवी–देवता कहते हैं। करोड़ों देवी–देवता हैं। वास्तव में ये पृथक सत्ताएँ न होकर एक ईश्वर की ही प्रतीक हैं। ध्यान योग के लिए इन असंख्य देवताओं की मूर्तियों का निर्माण हुआ है।

जब हम ध्यान करने बैठते हैं, तो किसी देवी–देवता की काल्पनिक मूर्ति को मन में आधार रूप में जमा लेते हैं। उच्च शक्तियों से पूर्ण आदर्श मानसिक मूर्ति की सहायता से हमारा ध्यान अच्छी तरह जम जाता है। अधिक दिन साधना करने से उन्हीं गुणों का विकास साधक में होने लगता है। मूर्ति–पूजा उन साधकों के लिए विशेष उपयोगी है, जो अल्प बुद्धि के कारण निराकार ईश्वर का चिंतन नहीं कर पाते, मूर्ति–पूजा से हम मानसिक उन्नति कर सकते हैं और ऐसी–ऐसी शक्तियों को मन में बसा सकते हैं, जो प्रारंभ से हम में न हों। जब हम हिंदू देवी–देवता की किसी भी मूर्ति को चुन कर उसकी गुप्त शक्तियों पर ध्यान करने का आग्रह करते हैं, तो हमारा तात्पर्य केवल यही होता है कि इन्हें आधार मानकर चलना चाहिए। धातु, पत्थरों या चित्रों को ईश्वर कदापि नहीं मानना चाहिए। ये चित्र और हिंदू देवमूर्तियाँ तो आपके लिए निराकार ईश्वर–तत्व के आधार मात्र हैं, आपके चिंतन में सहायक हैं। प्रत्येक मूर्ति का जो निहित तात्पर्य है, शक्तियों के जो–जो गुप्त भंडार

स्पष्ट किए गए हैं, उन पर चिंतन करने से वे ही दिव्य गुण मनुष्य में स्वतः विकसित हो जाते हैं। देववाद हमारे व्यक्तित्व को दिव्य गुण से ओत–प्रोत करने और प्रभावशाली बनाने का एक प्रतीकवादी मनोवैज्ञानिक साधन है। हमारे ऋषि–मुनियों ने ईश्वर की प्रत्येक गुप्त शक्ति को देवताओं तथा देवियों के प्रतीकों से चित्रित कर दिया है।

ऐसी प्रतीक पद्धति अन्य धर्मों में कहीं भी नहीं पाई जाती है। हिंदू धर्म साधारण बुद्धि और योग्यता वाले साधकों के लिए भी इसीलिए उपयोगी और बुद्धि की पहुँच के भीतर है। देवी–देवताओं के पूजन से प्रारंभ कर साधक धीरे–धीरे देवताओं की शक्तियों पर मानस नेत्र केंद्रित करता है और अपने व्यक्तित्व का नए ढंग से विकास करता है।

कालांतर में लोग देवताओं की इन मूर्तियों के प्रतीक को भूल गए। किस–किस देव–मूर्ति का क्या गुप्त अर्थ है, इसे समझने की चेष्टा भी नहीं की गई। ब्राह्मणों ने इस दिशा में कुछ भी विशेष प्रयत्न नहीं किया। फल यह हुआ कि यह पूजा केवल ढकोसला मात्र रह गई। धीरे–धीरे जनता प्रतीकों का गुप्त अर्थ भी भूलती गई। हमारी देव मूर्तियाँ केवल खिलौने मात्र रह गईं। आज भी देववाद की यही दुर्गति है। अस्थिर और अल्प बुद्धि वाले व्यक्ति उनके प्रतीकों का अर्थ न समझ कर उन्हें कौतूहल की वस्तु समझते हैं। दूसरे धर्म वाले उनको उपहासास्पद मान बैठते हैं। यह नासमझी के कारण ही हुआ है। आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक भारतीय स्वयं इन प्रतीकों का अर्थ समझे और वाणी द्वारा अपने भाई–बहिनों को उसका अर्थ समझाए। हमें यह मानकर चलना चाहिए कि देववाद का आधार मनोवैज्ञानिक है, पूरे–पूरे आधारों पर टिका हुआ है, तथ्य पूर्ण है और सर्वथा मान्य है। इसके स्पष्टीकरण मात्र की जरूरत है।

देवपूजा का विधान

भारतीय संस्कृति देव पूजा में विश्वास रखती है। देव शब्द का स्थूल अर्थ है–''देने वाला'' ज्ञानी, विद्वान आदि श्रेष्ठ व्यक्ति। देवता हमसे दूर नहीं हैं, वरन् पास ही हैं। हिंदू धर्म ग्रंथों में जिन तैतीस करोड़ देवताओं का वर्णन किया गया है, वे वास्तव में देव–शक्तियाँ हैं। ये गुप्त रूप से संसार में नाना प्रकार के परिवर्तन, उपद्रव, उत्कर्ष करती रहती हैं।

हमारे यहाँ कहा गया है कि देवता ३३ प्रकार के हैं, पितर आठ प्रकार के, असुर ९९ प्रकार के गंधर्व २७ प्रकार के पवन ४९ प्रकार के बताए गए हैं। इन भन्न–भिन्न शक्तियों को देखने से विदित होता है कि भारतवासियों को सूक्ष्म विज्ञान की कितनी अच्छी जानकारी थी और वे उनसे लाभ उठाकर प्रकृति के स्वामी बने हुए थे। कहा जाता है कि रावण के यहाँ देवता कैद रहते थे, उसने देवों को जीत लिया था।

हिंदुओं के जो इतने अधिक देवता हैं, उनसे यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने मानवता के चरम–विकास के असंख्य दैवी गुणों के विकास पर गंभीरता से विचार किया था। प्रत्येक देवता एक गुण का ही मूर्त रूप हैं। देव–पूजा एक प्रकार से सद्‌गुणों, उत्तम सामर्थ्यों और उन्नति के गुप्त तत्वों की पूजा है। जीवन में धारण करने योग्य उत्तमोत्तम सद्‌गुणों को देवता का रूप देकर समाज का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट किया गया। गुणों को मूर्तस्वरूप प्रदान कर भिन्न–भिन्न देवताओं का निर्माण हुआ है। इस सरल प्रतीक पद्धति से जनता को अपना जीवन ऊँचाई की ओर ले जाने का अच्छा अवसर प्राप्त हुआ।

आप चाहे जिस हिंदू देवी–देवता की पूजा आराधना करें, वह उसी जगत नियंता की एक शक्ति का रूप है। वह देवत्व का

एक पहलू है जो आपके व्यक्तित्व में विकसित होकर आपको सामर्थ्यवान बना सकता है।

''आरोग्यं भास्करादिच्छेत धनामिच्छेदहुताशनात्।
ज्ञान च शंकरादिच्छेत मुक्ति मिच्छेत जनार्दनात्॥''

अर्थात्–''आरोग्य की कामना सूर्यनारायण से करे, धन की इच्छा हुताशन (अग्निहोत्र) से करे। ज्ञान के लिए शंकर जी की आराधना करे और मुक्ति के लिए जनार्दन का आश्रय ग्रहण करे।''

इस श्लोक का स्थूल अर्थ तो यही है कि अमुक–अमुक अभिलाषा के लिए अमुक–अमुक देवता की पूजा, आराधना, चिंतन इत्यादि करे। पूजा–अर्चा का साधारण अर्थ हम लोग गंध, अक्षत, धूप, दीप, पुष्प, नैवेद्य, तांबूल, अर्घ्य, स्तोत्र नमस्कार आदि ही समझते हैं और इतना कर्मकांड कर लेने से यह आशा करते हैं कि देवता लोग प्रसन्न होकर हमें मनोवांछित वस्तुएँ प्रदान कर देंगे, परंतु हम देखते हैं कि अनेक मनुष्य इस प्रकार की ऊपरी पूजा–अर्चाओं में बहुत समय तक लगे रहते हैं, तो भी उनकी इच्छाएँ पूर्ण नहीं होती हैं। ऐसी दशा में उपर्युक्त शास्त्र वचन की सत्यता पर संदेह सा होने लगता है।

गंभीर दृष्टि से देखा जाए, तो इस वचन में संदेह की कोई गुंजायश नहीं है। असफलता का कारण हमारा एकांगी दृष्टिकोण है। हम समझते हैं कि हिंदु देवताओं को प्रसन्न करने के लिए धार्मिक कर्मकांड की पूजा–पत्री ही पर्याप्त है, पर वास्तविक बात ऐसी नहीं है। हिंदू देवी–देवताओं का वास्तविक रूप समझना चाहिए। प्रत्येक देवी देवता का व्यावहारिक रूप है, जो हमारे दैनिक जीवन में कर्म पर निर्भर है। ये देवता हमसे यह माँग करते हैं कि हम उन्हें प्रसन्न करने के लिए इस जगत में ठोस काम करें, उनके द्वारा दिखाई हुई दिशा में परिश्रम करें,

अपने उद्देश्य में तन्मय हो जाएँ, संक्षेप में अपने मन वचन से उनमें अपने को नियोजित कर दें, तभी सच्ची पूजा संभव हो सकती है। कर्म से प्रसन्न होकर ही ये देवता मनोवांछित फल दिया करते हैं। ये कार्य शक्तियों के प्रतीक है। जब हम किसी मनोवांछित देवता को चुनें तो हमें उसके व्यावहारिक रूप को अवश्य समझ लेना चाहिए।

उदाहरण के लिए सूर्य देवता से हम आरोग्य, बल, स्वास्थ्य, दीर्घ जीवन की कामना करें। इसका व्यावहारिक अर्थ यह है कि हम सूर्य की किरणों, प्रकाश, वायु, खुले वातावरण से घनिष्टता रखें। शरीर को प्रकृति के संपर्क में आने दें। प्राकृतिक जीवन जिएँ। बदन को कपड़ों से ऐसा न लपेट लें कि त्वचा तक प्रकाश और वायु ही न पहुँच सके। सूर्य को नारायण विशेषण दिया गया है। जिसका गुप्त तात्पर्य यह है कि उसकी किरणों में जीवनदायनी शक्तियाँ हैं। ये रोग के कीटाणुओं को मारने की प्रचंड शक्ति रखती हैं, जितनी किसी बहुमूल्य दवाई में भी नहीं मिल सकती। जो व्यक्ति प्रकृति से निकट संपर्क रखते हैं और खुली–धूप, प्रकाश आदि में कार्य करते हैं, वे दीर्घजीवी और निरोग रहते हैं। कहा भी है कि "जहाँ धूप और हवा नहीं पहुँचती, वहीं डाक्टर पहुँचते हैं।" प्रकृति के फल–फूल, जीवों को देखिए। फल, वनस्पति, वृक्ष आदि का जो भाग धूप से सीधा संबंध रखता है, वहाँ प्राण शक्ति अधिक पाई जाती है। फलों के, शाक–भाजियों के, अन्नों के छिलके सूर्य किरणों से सीधे संपर्क में आते हैं। इसलिए भीतरी भाग की अपेक्षा उनके छिलकों में पोषण तत्व विटामिन अधिक पाए जाते हैं। सूर्य–स्नान, सूर्य किरण चिकित्सा, सूर्य नमस्कार, सूर्य सेवन, सूर्य उपासना, सूर्य–महात्म्य आदि सभी का चिकित्सा पद्धतियों और वैद्यक में बड़ा.महत्व माना गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि

सूर्य के इन असंख्य लाभों को देखकर ही हिंदू तत्व ज्ञानियों ने सूर्य को ''नारायण'' का दिव्य विशेषण प्रदान किया है। सूर्य–शक्ति को जीवन में अधिक से अधिक धारण करके उसे व्यवहार में उतारना यही सूर्य पूजा है, जिससे आरोग्य की वृद्धि होती है।

हुताशन–अग्निहोत्र का वास्तविक अर्थ है–''साहसपूर्ण त्याग''। अग्निहोत्र में पहले हम अपनी मूल्यवान हवन–सामग्री श्रद्धापूर्वक हवन करते हैं, तब उस यज्ञ का फल मिलता है। जो व्यक्ति कठिन श्रम, जिम्मेदारी, ईमानदारी तथा जोखिम उठाने के लिए तैयार रहते हैं, वे ही धन कमा पाते हैं। भाग्य के भरोसे बैठे रहने वाले आलसी, साहसहीन व्यक्ति कोई ऊँचा काम नहीं कर सकते और न धन कमा सकते हैं। किसान अपना अन्न खेत में बखेर देता है, धैर्यपूर्वक छः महीने खेत को अपने पसीने से सींचता रहता है, एक बीज के बदले सौ बीज उसे मिलते हैं। साहसी पुरुषों के गले में लक्ष्मी की जयमाला पड़ जाती है। धैर्यवान, अग्नितप सा कठोर परिश्रम करने वाले, अपने कारोबार पर एकाग्र चित्त से श्रद्धा रखने वाले सफलता प्राप्त करते हैं। यही अग्नि–पूजा का वास्तविक व्यावहारिक स्वरूप है। जो व्यक्ति अग्निदेवता की पूजा का विधान समझता है, उसे अग्नि जैसा कठोर तप करना चाहिए।

ज्ञान के लिए शंकर भगवान की आराधना का विधान है। शिवशंकर सयंमी, निस्पृह, त्यागी, योगस्थित (एकाग्रचित्त) उदारमना हैं। शंकरजी के इन गुणों को अपने चरित्र तथा दैनिक कार्यों में प्रकट करने वाले व्यक्ति ही सच्चे अर्थों में ज्ञानवान बनते हैं। उन्हें तत्व–दर्शन प्राप्त होता है। असंयमी, ममताग्रस्त, लोभी, डाँवाडोल चित्त वाले, अनुदार वृत्तियों वाले लोग शिक्षा की उत्तम व्यवस्था होने पर अधूरा और उल्टा ज्ञान

ही प्राप्त करते हैं। वह ज्ञान नहीं, एक प्रकार का अज्ञान है, जिससे उनमें असत्य, छल, अपहरण, शोषण, अहंकार, असंयम जैसे दुर्गुणों की वृद्धि होती है। जिनमें शंकर तत्त्व की स्थिति मौजूद है, वे कोई गुरु न होते हुए भी एकलव्य की तरह मिट्टी की मूर्ति को गुरु बना लेते हैं, कबीर की तरह गुरु के बिना जानकारी में ही दीक्षा ले लेते हैं। दत्तात्रेय की तरह मकड़ी, मक्खी, कौवे, कुत्ते जैसे निम्न कोटि के जीवों को गुरु बनाकर उनसे अपना ज्ञान भंडार भर लेते हैं। ज्ञान–प्राप्ति के लिए अपने अंदर शंकर तत्त्व की स्थापना आवश्यक है। इसका यह व्यावहारिक रूप है।

मुक्ति के लिए जनार्दन की पूजा की जाती है। जनता–जनार्दन की पूजा को, लोक–सेवा को, अनेक तत्त्वदर्शियों ने मुक्ति का साधन माना है। प्राणिमात्र में समाए हुए सजीव भगवान की पूजा करना कितने ही महर्षियों ने निर्जीव प्रतिमा पूजा की अपेक्षा कहीं ऊँचा माना है। इस प्रकार लोक सेवा, ईश्वर–पूजा ही ठहरती है, उससे मुक्ति का द्वार खुल जाता है।

हिंदू देव पूजा प्रत्यक्ष फलदायी साधना है। हिंदू अपने चारों ओर प्रत्येक जीव, वृक्ष, पशु, मनुष्य सब में भगवान को ही व्यापक देखता है। संसार के सब प्राणियों और अपने–आस–पास के मनुष्यों को जनार्दनमय समझता है। ऐसा व्यक्ति गुप्त या प्रकट रूप से किसी के प्रति कोई बुराई नहीं कर सकता। ऐसा सात्विक आचार और विचार वाला व्यक्ति अपने सतोगुण के कारण दूसरों को मुक्त करता और स्वयं जीवनमुक्त हो जाता है।

हमारी देव–पूजा में इसी प्रकार के गुप्त अभिप्राय कूट–कूट कर भरे हुए हैं। ये हमारे अंदर छिपे हुए पराक्रम को जागृत करने के प्रतीक हैं। ये गुणों की स्थूल प्रतिमाएँ हैं। आज

अज्ञानवश हिंदू अपनी छिपी हुई शक्तियों को भूल गए हैं, अन्यथा इनमें ज्ञान, अध्यात्म, धर्म, विवेक का अतुलित ज्ञान भंडार भरा हुआ है।

व्रत और त्यौहार

भारतीय संस्कृति में व्रत, त्यौहार, उत्सव, मेले आदि अपना विशेष महत्व रखते हैं। हिंदुओं में ही सबसे अधिक त्यौहार मनाए जाते हैं, कारण हिंदू ऋषि–मुनियों ने त्यौहारों के रूप में जीवन को सरस और सुंदर बनाने की योजनाएँ रखी हैं। प्रत्येक त्यौहार, व्रत, उत्सव, मेले आदि का एक गुप्त महत्व है। प्रत्येक के साथ भारतीय संस्कृति जुड़ी हुई है। ये विशेष विचार अथवा उद्‌देश्य को सामने रखकर निश्चित किए गए हैं।

प्रथम विचार तो ऋतुओं के परिवर्तन का है। भारतीय संस्कृति में प्रकृति का सहचर्य अपना विशेष महत्व रखता है। प्रत्येक ऋतु–परिवर्तन अपने साथ विशेष निर्देश लाता है, खेती में कुछ स्थान रखता है। कृषि प्रधान होने के कारण प्रत्येक ऋतु–परिवर्तन हँसी–खुशी मनोरंजन के साथ अपना–अपना महत्व रखता है। इन्हीं अवसरों पर त्यौहारों का समावेश किया गया है, जो उचित हैं। ये त्यौहार दो प्रकार के होते हैं और उद्‌देश्य की दृष्टि से इन्हें दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम श्रेणी में वे उत्सव, त्यौहार और मेले हैं, जो सांस्कृतिक हैं और जिनका उद्‌देश्य भारतीय संस्कृति के मूल तत्वों और विचारों की रक्षा करना है। इस वर्ग में हिंदुओं के सभी बड़े–बड़े त्यौहार आ जाते हैं, जैसे होलिकोत्सव, दीपावली, बसंत, श्रावणी, संक्रांति आदि। संस्कृति की रक्षा इनकी आत्मा है।

दूसरी श्रेणी में वे त्यौहार आते हैं, जिन्हें किसी महापुरुष

की पुण्य स्मृति में बनाया गया है। जिस महापुरुष की स्मृति के ये सूचक हैं, उसके गुणों, लीलाओं, पावन चरित्र, महानताओं को स्मरण रखने के लिए इनका विधान है। इस श्रेणी में रामनवमी, कृष्णजन्माष्टमी, भीष्म–पंचमी, हनुमान जयंती, नाग पंचमी आदि त्यौहार रखे जा सकते हैं।

दोनों वर्गों में मुख्य बात यह है कि लोग सांसारिकता में न डूब जाएँ या उनका जीवन नीरस, चिंताग्रस्त न हो जाए, उन्हें ईश्वर की दिव्य शक्तियों और अतुल सामर्थ्य के विषय में चिंतन, मनन, स्वाध्याय के लिए पर्याप्त अवकाश मिले। त्यौहारों के कारण सांसारिक आधि–व्याधि से पिसे हुए लोगों में नए प्रकार की उमंग और जागृति उत्पन्न हो जाती है। बहुत दिन पूर्व से ही त्यौहार मनाने में उत्साह और औत्सुक्य में आनंद लेने लगते हैं।

हमारा होलिकोत्सव गेहूँ और चने की नई फसल का स्वागत, गर्मी के आगमन का सूचक, हँसी–खुशी और मनोरंजन का त्यौहार है। ऊँच–नीच, अमीर–गरीब, जाति–वर्ण का भेद–भाव भूलकर सब हिंदू प्रसन्न मन से एक दूसरे के गले मिलते और गुलाल, चंदन, रोली, रंग, अबीर लगाते हैं। पारस्परिक मन–मुटाव और वैमनस्य को पुण्य गंगा में बहाया जाता है। यह वैदिककालीन और अति प्राचीन त्यौहार है। ऋतुराज बसंत का उत्सव है। बसंत पशु–पक्षी, कीट–पतंग, मानव सभी के लिए मादक, मोहक ऋतु है। इसमें मनुष्य का स्वास्थ्य भी अच्छा रहता है। होलिका दहन प्राचीन यज्ञ व्यवस्था का ही बिगड़ा हुआ रूप है, जब सब नागरिक भेदभाव छोड़कर छोटे–छोटे यज्ञों की योजना करते थे, मिल–जुलकर प्रेमपूर्वक बैठते थे, गायन–वादन करते थे और शिष्ट मनोरंजन से आनंद मनाते थे। आजकल इस उत्सव में जो अपवित्रता आ गई है, उसे दूर

करना चाहिए। अश्लीलता और अशिष्टता को पर्व त्यौहारों से दूर करना आवश्यक है।

दीपावली लक्ष्मी पूजन का त्यौहार है। गणेश चतुर्थी, संकट नाशक त्यौहार है। बसंत पंचमी प्रकृति की शोभा का उत्सव है। ऋतुराज बसंत के आगमन का स्वागत इसमें किया जाता है। प्रकृति का जो सौंदर्य इस ऋतु में देखा जाता है, अन्य ऋतुओं में नहीं मिलता। इस दिन सरस्वती पूजन भी किया जाता है। प्रकृति की मादकता के कारण यह उत्सव प्रसन्नता का त्यौहार है। इस प्रकार हमारे अन्य त्यौहारों का भी सांस्कृतिक महत्व है। सामूहिक रूप से सब को मिलकर आनंद मनाने और एकता के सूत्र में बाँधने का गुप्त रहस्य हमारे त्यौहारों और उत्सवों में छिपा हुआ है।

श्राद्ध और तर्पण

भारतीय संस्कृति और हिंदू धर्म में श्राद्ध का अपना विशेष स्थान है। श्राद्ध शब्द श्रद्धा से बना है और उसी से उसके गुप्त तात्पर्य पर प्रकाश पड़ता है। सत्कर्मों के लिए, सत्पुरुषों के लिए आभार की, कृतज्ञता की भावना रखना श्रद्धा कहलाता है। जिस व्यक्ति ने हमारे साथ उपकार किया है, हम उसका श्रद्धा सहित स्मरण करते हैं। इस स्मरण में भजन–पूजन के साथ–साथ भोजन की व्यवस्था भी रहती है। यह सम्मिलित रूप श्राद्ध कहलाता है। श्राद्ध एक प्रकार से मृत पूज्य व्यक्तियों के प्रति कृतज्ञता की भावना स्पष्ट करना है। गुरुजनों के चरण स्पर्श, अभिनंदन, सेवा आदि भावों की वृद्धि हमारे यहाँ महत्वपूर्ण मानी गई है। जब तक गुरुजन रहें, उनके प्रति कृतज्ञता चलती रहती है, स्वर्गवास हो जाने के पश्चात भी वही श्रद्धा कायम

रहनी चाहिए। इस दृष्टि से मृत्यु के पश्चात पितृ पक्ष में मृत्यु की वर्ष तिथि के दिन, पर्व समारोह पर श्राद्ध करने का श्रुति स्मृतियों में विधान पाया जाता है। नित्य की संध्या के साथ तर्पण जुड़ा हुआ है। जल की एक अंजलि भर कर कृतज्ञता के भाव से हम स्वर्गीय पितृ–देवों के चरणों में उसे समर्पित कर देते हैं। इस प्रकार श्रद्धा, प्रेम, कृतज्ञता, अभिनंदन सभी मिश्रित रूप में हमारे श्राद्ध हैं।

श्राद्धों के द्वारा हमारी संस्कृति ने श्रद्धा तत्व को जीवित रखने का प्रयत्न किया है। जीवित पितरों को तो हम सेवा–पूजा आराधना से प्रसन्न कर लेते हैं, पर स्वर्गीय पितरों को कृतज्ञता प्रकट करने का यही उपाय है। हिंदू श्राद्ध करके ही मृतकों के उपकार, प्रेम, आत्मीयता से कृतज्ञ हो जाता है।

हिंदू संस्कृति की उदारता महान है, उसमें संकीर्णता, कहीं नहीं है। कर्मकांडों में आधे से अधिक श्रद्धा तत्व भरा पड़ा है। सूर्य, चंद्र, ग्रह, नक्षत्र, पृथ्वी, अग्नि, जल, कुआँ, तालाब, मरघट, खेत, खलिहान, चक्की, चूल्हा, तलवार, कलम, जेवर, रुपया, घड़ा, पुस्तक आदि निर्जीव पदार्थों तक के प्रति हम अपनी श्रद्धा और कृतज्ञता प्रकट करते रहे हैं। विवाह संस्कारों के अवसरों पर नाली या घूरे तक की पूजा होती है। वृक्षों में तुलसी, पीपल, बड़, आँवला आदि तथा पशुओं में गौ, बैल, घोड़ा, हाथी तक पूजे जाते हैं।

श्राद्ध किस तत्व पर टिका है? भारतीय संस्कृति यह मानती है कि शरीर नष्ट हो जाने पर भी जीव का अस्तित्व नहीं मिटता। वह सूक्ष्म रूप में हमारे चारों ओर के वातावरण में घूमते रहते हैं। जीव का फिर भी अपने परिवार के प्रति कुछ न कुछ ममत्व रह जाता है। सूक्ष्म आत्माएँ आसानी से सब लोकों से आकर हमारे चारों ओर चक्कर लगाया करती हैं। हमारे विचार

और भावनाएँ इस सूक्ष्म वातावरण में फैलते हैं। इन्हें हम जिस तेजी से बाहर के वातावरण में फेंकते हैं, ये उसी गति से दूर–दूर तक फैल जाते हैं। अतः श्राद्ध में प्रकट किए गए पूर्वजों के प्रति हमारे आत्मीयता, सद्भावना, कृतज्ञता के भाव उन आत्माओं के पास पहुँच जाते हैं। उन्हें इनसे सुख, शांति, प्रसन्नता और स्वस्थ्यता मिलती है। इसी प्रकार तर्पण का वह जल पितरों के चरणों में एक प्रकार की श्रद्धांजलि माना गया है। यद्यपि यह जल तो यहीं गिर जाता है, पर जल तर्पण करते समय हमारे मन में जो पवित्र कृतज्ञता के भाव आते हैं, उनका बड़ा महत्व है। हमारे मन की संकीर्णता, दुष्टता, ईर्ष्या, द्वेष आदि दूषित तमोगुणी नीच भावनाएँ नष्ट होती हैं और प्रेम, त्याग, कृतज्ञता के भाव फैलते हैं। मन में पितरों की उपकारमयी, स्नेहमयी, देवोपम मूर्तियाँ आती हैं। सद्विचार फैलते हैं।

विचारों को अनुकूल बनाना ही पुरुषार्थ है। अभ्यास से विचार अनुकूल या प्रतिकूल बनते हैं। जो पुरुष जिस प्रकार के विचार बार–बार मन में लाता है, वह उसी प्रकार का स्वयं बनता जाता है। श्राद्ध और तर्पण में कृतज्ञता, उपकार, प्रेम, त्याग आदि की सद्भावनाएँ हमारे मन में आती हैं और हमें सुख–संतोष प्राप्त होता है। कृतज्ञता से इच्छा शक्ति बलवान बनती है। श्रद्धा की भावना बढ़ती है। सात्विक, पारमार्थिक और धार्मिक दृष्टिकोण से हमारी उच्च वृत्तियाँ पनपती हैं। प्रति वर्ष श्राद्ध हमें यह याद दिलाते हैं कि हमारे जो उपकारी पूजनीय एवं आत्मीय पुरुष स्वर्ग सिधार गए हैं, उनके प्रति कृतज्ञता की भावना रहना और प्रकट करना चाहिए।

षोडश संस्कार

हिंदू धर्म का आधार मनोविज्ञान है। प्रत्येक बात गुप्त मनोवैज्ञानिक सत्यों पर आधारित है। हमारे यहाँ संस्कारों को विशेष महत्व प्रदान किया गया है। माता–पिता, वंश, वातावरण का जो गुप्त संस्कार बालक पर पड़ता है, वह उसके जीवन को सदा प्रभावित किया करता है। सत्संस्कारों से ही बालक सद्गुणी, सद्विचार संपन्न, सत्संगपरायण, आदर्शभूत, अनुशासित, सेवा परायण और साहसी बनते हैं।

हमारे ऋषियों के अनुसार गर्भाधान से ही शिशु पर संस्कार पड़ने प्रारंभ हो जाते हैं। जैसा माता–पिता का अंतरंग होगा, वैसे ही विचार बच्चे में भर जाएँगे। गर्भाधान से पूर्व ही माता–पिता के आहार–विहार और आचार–विचारों का गुप्त प्रभाव शिशु पर पड़ना प्रारंभ हो जाता है। अतः उसी समय से संस्कारों को संभालने की ओर ध्यान दिया गया है। गर्भाधान से लेकर अंत्येष्टि तक हमारे भिन्न–भिन्न सोलह संस्कारों को मंत्रों सहित करने का विधान है।

मनुस्मृति के आधार पर सोलह संस्कार इस प्रकार हैं–

१–गर्भाधान, २–पुंसवन, ३–सीमंतोन्नयन, ४–जातकर्म, ५–नामकरण, ६–निष्क्रमण, ७–अन्नप्राशन, ८–चूड़ाकरण, ९–कर्णवेध, १०–उपनयन–वेदारंभ (ब्रह्मचर्य व्रत), ११–केशांत, १२–ब्रह्मचर्य समाप्ति, १३–विवाह, १४–वानप्रस्थ, १५–परिव्रज्या, १६–पितृमेध। विद्वानों का मतभेद होने पर भी सभी अन्य प्रकार भी सम्मिलित हो जाते हैं। पं. दीनानाथ के अनुसार इन संस्कारों के निम्नलिखित फल होते हैं–

१–गर्भाधान से वीर्य संबंधी तथा गर्भ संबंधी पाप का नाश होता है तथा क्षेत्र का संस्कार भी गर्भाधान का फल कहा

गया है।

२–पुंसवन से गर्भ में पुरुष का चिन्ह प्रकट होता है।

३–सीमंतोन्नयन का फल गर्भाधान के फल के समान ही होता है।

४–जातकर्म से गर्भास्रावजन्य सारा दोष नष्ट हो जाता है। आयु व तेज की वृद्धि तथा लौकिक व्यवहार की सिद्धि होती है।

५–नामकरण में उच्चसद्गुण सूचक नाम मिलना चाहिए।

६–अन्नप्राशन से गर्भ में माता का मल खाने आदि का दोष दूर होता है।

७–बल, आयु व तेज की वृद्धि चूड़ाकर्म का फल कहा गया है।

८–द्विजत्व की प्राप्ति के साथ–साथ वेदाध्ययन के अधिकार की प्राप्ति उपनयन का फल बताया है।

९–कर्णवेध–शिखायुक्त पाँचवें वर्ष के बालक का यह संस्कार किया जाता है। इसमें दोनों कानों को वेधकर उसकी नस को ठीक करने के लिए उसमें सुवर्ण धारण किया जाता है। इससे शारीरिक रक्षा होती है।

१०–उपनयन–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों में यह संस्कार ८, ११,१२ वर्षों में किया जाता है। यह संस्कार आचार्य कुल में विद्या ग्रहण करने का अधिकार पट्ट है। इसमें लंगोट भी धारण करना पड़ता है, जिससे इंद्रिय–निग्रह, मन का एकाग्र होना और अंडवृद्धि रोग की आशंका दूर होती है। इसमें भिक्षा का भी विधान है, जिससे धनी–निर्धन की समता, देश का ऋण अपने ऊपर चढ़वाना लक्ष्य है, जिससे हम अपने आपको देश का ऋणी समझ कर देश की सेवा करते रहें। यह वेदारंभ, ब्रह्मचर्याश्रम का संस्कार है।

११–केशांत संस्कार–शिखा को छोड़कर बचे हुए बाल काट देना इसका उद्देश्य है। ब्राह्मण का १६ वें, क्षत्रिय का २२वें और वैश्य का २४ वें वर्ष में हुआ करता है।

१२–समावर्तन स्नान, संस्कार–इस संस्कार से विद्यार्थी गुरु दक्षिणा देकर व्रतांत–स्नान का विद्याध्ययन की समाप्ति करता है। २४ वर्ष में आचार्य कुल में विशेष स्नान भी करना पड़ता है। ब्रह्मचर्य के चिन्हों को त्याग कर गार्हस्थ के उपयुक्त चंदन, पुष्पमाला, पगड़ी, भूषण, शीशा देखना, सुरमा लगाना, जूता पहनना, आचार्य की देख–रेख में करना होता है।

१३–विवाह तथा अग्न्याधान का रहस्य–पितृ ऋण के शोधन के लिए यह संस्कार किया जाता है। इसमें धर्मानुकूल विधियों से स्त्री ग्रहण किया जाता है। धर्मानुकूल विधिपूर्वक विवाह करके ही धर्मपत्नी बनती है और धर्मानुष्ठान भी पुरुष का तभी पूर्ण होता है, जब उसका विवाह हो जाता है।

१४–धर्मानुकूल गृहस्थाश्रम व्यतीत करने के बाद ५१ वें वर्ष से ७५ वर्ष तक वानप्रस्थ संस्कार करना पड़ता है। इसमें घर का भार बड़े पुत्र पर डालकर पत्नी के साथ वन में निवास करना पड़ता है। शहर से दूर रहकर परलोक लाभार्थ धर्म–कर्म में संलग्न रहते हैं। इसमें स्वाध्याय और तपस्या का विधान है।

१५–परिव्रज्या या सन्यास का रहस्य–७५ वें वर्ष के पश्चात समस्त कर्मों का त्याग करना पड़ता है। पत्नी को भी छोड़ना पड़ता है, क्योंकि स्त्री धर्म, अर्थ, काम की ही प्राप्ति का साधन है, मोक्ष का नहीं। इस आश्रम में ज्ञान का संचय करना पड़ता है। यहाँ तो ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' उदार भाव धारण करना पड़ता है। इसमें भिक्षा से निर्वाह करना पड़ता है।

१६–पितृमेध या अन्त्य कर्म–वैध संस्कार से मृतक की आत्मा की परलोक में सद्गति हुआ करती है। अतः विधि पूर्वक

अन्त्येष्टि का विधान है।

इस प्रकार १६ संस्कारों के विधान से जीवन संतुलित और संयमित रहता है। ये गुप्त शुभ संस्कार और गर्भाधान से अंत तक चलने वाले विविध शास्त्रीय धार्मिक कृत्य हिंदुत्व को स्थिर रखने वाले हैं। वेदमंत्रों के उच्चारण द्वारा नए बालक पर जो पवित्र भाव अंकित कर दिए जाते हैं, उनके प्रभाव से वह एक अच्छा नागरिक और सभ्य समाज का प्राणी बन जाता है। ये मनुष्य के जीवन को सुसंस्कृत बनाने वाले और जीवन को उन्नत बनाने वाले हैं। अच्छे संस्कार ही मनुष्य के उत्कर्ष के मूल आधार हैं। जैसे सोना, खान से निकलने पर साफ किया जाता है, वैसे ही संस्कारों से मनुष्य के दोष दूर हो कर परिष्कृत मानवता का प्रकाश दोषों से दूर करने वाले हैं।

संध्या–वंदन, प्रार्थना

भारतीय संस्कृति में मंत्र, स्तुति, संध्यावंदन, प्रार्थना आदि का महत्व है। अधिकांश देवी–देवताओं के लिए हमारे यहाँ निश्चित स्तुतियाँ हैं, भजन हैं, प्रार्थनाएँ, आरतियाँ हैं। प्रार्थना, मंत्र, स्तुति आदि द्वारा देवताओं से श्री, कीर्ति, बल, कांति आदि विभूतियाँ प्राप्त होती हैं। ये सब कार्य हमारी अंतःशुद्धि के मनोवैज्ञानिक साधन हैं।

जैसे भिन्न–भिन्न मनुष्यों की भिन्न–भिन्न रुचियाँ होती हैं, वैसे ही हमारे पृथक–पृथक देवताओं की मंत्र, आरतियाँ, पूजा, प्रार्थना की विधियाँ भी पृथक–पृथक ही हैं। ये देवी–देवता हमारे भावों के ही मूर्त रूप हैं। जैसे हनुमान हमारी शारीरिक शक्ति के मूर्त स्वरूप है, शिव कल्याण के मूर्त रूप हैं, लक्ष्मी आर्थिक बल की मूर्त रूप हैं आदि। अपने उद्देश्य के अनुसार

जिस देवी–देवता की स्तुति या आरती करते हैं, उसी प्रकार के भावों या विचारों का प्रादुर्भाव निरंतर हमारे मन में होने लगता है। हम जिन शब्दों अथवा विचारों, नाम अथवा गुणों का पुनः–पुनः उच्चारण, ध्यान तथा निरंतर चिंतन करते हैं, वे ही हमारी अंतश्चेतना में इकट्ठे हो जाते हैं। इन दिव्य गुणों का निरंतर उच्चारण ही अपनी चेतना में इन्हें धारण करने का साधन है। मंत्र, प्रार्थना या वंदन द्वारा हम उस दिव्य चेतना का आह्वान करें, उसको मन, बुद्धि और शरीर में धारण करते हैं। अतः ये वे उपाय हैं, जिनसे सद्‌गुणों का विकास होता है और चित्त शुद्धि हो जाती है। प्रत्येक देवता की जो स्तुति, मंत्र या प्रार्थना है, वह उच्चरित होकर आस–पास के वातावरण में कंपन्न उत्पन्न करती है। उस भाव की आकृतियाँ समूचे वातावरण में फैल जाती है। हमारा मन और आत्मा उससे पूर्णतः सिक्त हो जाता है। हमारा मन उन कंपन्नों से उस उच्च भाव–स्तर में पहुँचता है, जो उस देवता का भाव–स्तर है, जिसका हम मंत्र जपते हैं या जिसकी अर्चना करते हैं, प्रार्थना द्वारा मन उस देवता के संपर्क में आता है। उन मंत्रों के जाप से बाहर भीतर एक सी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार मंत्र, जप प्रार्थना, स्तुतियाँ कंपनात्मक शक्ति हैं।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः

भारतीय दर्शन के छः विभागों में योग हिंदुओं की और भारत की विश्व को एक महान देन है। योग अपने आप में एक विज्ञान है। इसे हम चाहें तो पूर्वात्य मनोविज्ञान भी कह सकते हैं। भारतीय संस्कृति में रुचि रखने वाले योग को बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं, क्योंकि यह आध्यात्मिक चमत्कारों से परिपूर्ण है। योग का प्रारंभ महर्षि पातंजलि ने किया था। उनके अनुसार

योग वह विद्या है, जिससे मनुष्य अपने मन को पूर्ण वश में कर ईश्वरीय आत्मा में अपने आपको लय कर सकता है।

''योग'' शब्द का अर्थ है ''मिलना'' या ''जुड़ना''। दो बिछुड़े हुए व्यक्तियों का मिलन भी कितना सुखद होता है। परस्पर एक दूसरे से जुड़कर हम दृढ़ और मजबूत बनते हैं। आंतरिक आह्लाद का अनुभव करते हैं। हमारी आत्मा को सुख मिलता है। मनुष्य के अंतस्थल में जो शुद्ध, बुद्ध, चैतन्य, सत्, आनंद, शिव, सुंदर, अजर–अमर है, वह आत्मा ही है। इस आत्मा का, जगतपिता ईश्वर का, आत्मा–विश्वात्मा से घनिष्ट संबंध है। योग साधना द्वारा आत्मा का जब परमात्मा से मिलन होता है, तो माता की छोटी स्तनपान करने वाली बिछुड़ी हुई संतान के मिलने से जो आनंद मिलता है, वही आनंददायक अनुभूति हमें प्राप्त होती है।

आत्मा से परमात्मा के मिलन की जो अनुभूति होती है, वह सर्वाधिक आनंद और शाश्वत शांति देने वाली है। भक्त ईश्वर की आराधना और अंततः मिलन के द्वारा जो सुख प्राप्त होता है, वह अनिर्वचनीय है। एक उदाहरण लीजिए।

मृत्यु शैय्या पर पड़े हुए बालि से भगवान राम ने पूछा कि तुम स्वर्ग, मुक्ति या जो सद्गति चाहो मुझसे इसी समय प्राप्त कर सकते हो। तो बालि ने उत्तर दिया–

जेहि योनि जन्मों कर्मवश,
तह राम–पद अनुरागऊँ॥

हे भगवान! मुझे स्वर्ग या मुक्ति नहीं चाहिए, मुझे तो यह वरदान दीजिए कि कर्मवश जहाँ जिस योनि में मेरा जन्म हो, उस जन्म में मुझे राम के चरणों का अनुराग (या भक्ति) प्राप्त होती रहे। मुझे अपनी अक्षय भक्ति दीजिए।

यही भावनाएँ प्रायः अन्य सभी योनियों को अपनी आत्मा

को ईश्वर में लय कर देने से प्राप्त होती है। योग वह क्रिया है, जिसके द्वारा स्वर्ग और मुक्ति का सुख यहीं प्राप्त हो जाता है। अनेक साधक अपनी भौतिक संपदाओं में लात मार कर आत्मिक साधनाओं (योगासन, प्राणायाम, ध्यान, यम, नियम) में तल्लीन होते हैं, क्योंकि भौतिक सुख की अपेक्षा आत्मिक आनंद को ही वे प्रधानता देते हैं। योगियों ने विश्वात्मा से मिलन के अपने अनुभव लेखबद्ध किए हैं। अतः योग का चमत्कार जानने और अनुभव करने के लिए यह आवश्यक है कि जिज्ञासु स्वाध्याय तथा आत्मवादियों, योगियों एवं विद्वानों के सत्संग द्वारा योग–विद्या को भली–भाँति समझें। आजकल तो केवल आसन और प्राणायाम मात्र ही करना योग हो गया है। ये तो शरीर के स्वास्थ्य के लिए गौण यौगिक साधन हैं, प्रधान तो मनोयोग और आत्मयोग है। योगशास्त्र के अध्ययन में पर्याप्त उत्साह सद्‌गुरु की प्राप्ति और दीर्घकालीन अभ्यास ये आवश्यकताएँ योग–साधना के लिए जरूरी हैं।

योग के कई अंग हैं, जैसे मनोयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग और राजयोग। यम–नियम वे आधार हैं, जिनके बिना कोई योग–मार्ग पर प्रवृत्त नहीं हो सकता। योगी श्री अरविंद ने आत्म–समर्पण पर बहुत बल दिया है। योग–साधना क्या है? मानव अंतःस्थल में जो शुद्ध–बुद्ध चैतन्य अमर सत्ता है, वही परमात्मा है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार के चतुष्टय को जीव कहते हैं। यही जीव आत्मा से भिन्न भी है और अभिन्न भी है। इसे द्वैत भी कहते हैं, अद्वैत भी। अग्नि में लकड़ी जलने से धुआँ उत्पन्न होता है। धुएँ को अग्नि से अलग कहा जा सकता है, पर अग्नि बिना उसका कोई अस्तित्व नहीं। अतः वह अग्नि का ही अंग है, यह अद्वैत है। आत्मा अग्नि है और जीव धुआँ है। दोनों अलग भी हैं और एक भी। उपनिषदों में इसे एक वृक्ष पर बैठे

हुए दो पक्षियों की उपमा दी गई है। गीता में दोनों का अस्तित्व स्वीकार करते हुए एक को क्षर (नाशवान) एक को अक्षर (अविनाशी) कहा गया है।

भ्रम से, अज्ञान या माया से अथवा शैतान के नाना प्रलोभनों से दोनों की (जीव और परमात्मा) की एकता पृथकता में बदल जाती है। वही दुःख और शोक का कारण है। पिता–पुत्र, पति–पत्नी, भाई–भाई, सास–बहू में जब तक एकता रहती है, दोनों पक्ष आपस में प्रेम रखते हैं, एक दूसरे का हित चाहते हैं, सामंजस्य रखते हैं, तो घर में सुख रहता है, श्री वृद्धि होती है और सभी स्वर्ग का आनंद लेते हैं। यही स्थिति मानव–जीवन की भी है। जहाँ मन और आत्मा का एकीकरण होता है, वहाँ जीव की इच्छा रुचि एवं कार्य प्रणाली विश्वात्मा की इच्छा रुचि प्रणाली के अनुसार होती है, वहाँ अपार आनंद का स्रोत उमड़ता है, पर जहाँ दोनों में विरोध होता है, जहाँ नाना प्रकार के अंतर्द्वंद्व चलते रहते हैं, वहाँ आत्मिक शांति के दर्शन दुर्लभ हो जाते हैं।

मन और आत्मा का संबंध पति–पत्नी और पिता–पुत्र की अपेक्षा अधिक घनिष्ट है। इसलिए उन दोनों की एकता की और भी आवश्यकता है। दोनों का दृष्टिकोण एक होना चाहिए। दोनों की इच्छा, रुचि एवं कार्य प्रणाली एक होनी चाहिए। तभी जीवन में सच्ची शांति के दर्शन हो सकते हैं, पर इस स्थिति को बिरले ही प्राप्त करते हैं। जिस प्रकार हमारे घर या परिवार में अनैक्य के कारण कलह, क्लेश और संतापों से मनःक्षेत्र में घोर अशांति मची रहती है। इस अवस्था में संताप से उसका अंतःलोक दावानल की तरह जलता रहता है। मनुष्य के पास भौतिक सुख साधन कितने ही क्यों न हों, उसके अंतःकरण को तनिक भी शांति उपलब्ध नहीं होती। अनेक धन–दौलत के स्वामी सेठ

पूँजीपति अनेकों चिंताओं, आवेशों, वेदनाओं और संतापों से घिरे रहते हैं। इससे प्रकट होता है कि धन–दौलत से कोई भी व्यक्ति जीवन का सच्चा और स्थाई आनंद या सुख प्राप्त नहीं कर सकता।

इसी प्रकार अनेक ऐसे भी व्यक्ति हैं, जिनके पास रुपया पैसा या अन्य भौतिक संपदाएँ नहीं है, फिर भी खूब मस्त रहते हैं। सुख की नींद सोते हैं और चारों ओर आनंद देखते हैं। इससे प्रकट है कि धन–दौलत के या साधनों के न होने से सच्चे सुख में कोई कमी नहीं आती। अमीरों का भी दुखी रहना और गरीबों का भी सुखी होना इस बात का प्रमाण है कि सुख का वास्तविक स्थान बाहर नहीं है, बाहर की वस्तुओं में नहीं है।

मन और अंतःकरण की एकता में, दोनों में ही सुख है। इसी को यौगिक शब्दावलि में आत्मा और परमात्मा का मिलन कह सकते हैं। इस मिलन का ही दूसरा नाम ''योग'' है। आत्मा और परमात्मा के मिलन से, दोनों के योग से एक ऐसे आनंद का आविर्भाव होता है, जिसकी तुलना संसार के अन्य किसी भी सुख से नहीं की जा सकती। इस सुख को परमानंद, जीवनमुक्ति, ब्रह्म निर्वाह, आत्मोपलब्धि, प्रभुदर्शन आदि नामों से पुकारा जाता है।

मनुष्य के मन का वस्तुतः कोई अस्तित्व नहीं है। वह आत्मा का एक उपकरण, औजार या यंत्र है। आत्मा की कार्य पद्धति को सुसंचालित करके, चरितार्थ करके स्थूल रूप देने के लिए मन का अस्तित्व है। इसका वास्तविक कार्य यह है कि आत्मा की इच्छा एवं रुचि के अनुसार विचाराधारा एवं कार्य–प्रणाली को अपनाए। इस उचित एवं स्वाभाविक मार्ग पर यदि मन की यात्रा चलती रहे, तो मानव प्राणी जीवन के सच्चे सुख का रसास्वादन करता है, पर दुर्भाग्य की बात है कि आज हममें

से अधिकांश को वह स्थिति उपलब्ध नहीं है। आत्मा सत् प्रधान है। उसकी इच्छा एवं रुचि सात्विकता की दिशा में होती है। जीवन की हर घड़ी सात्विकता में सराबोर हो, हर विचार और कार्य सात्विकता से परिपूर्ण हो, यह आत्मा की माँग है, पर माया या अविद्या के कुचक्र में फँसकर वे दूसरी ओर चल देते हैं। रज और तम में उसकी प्रवृत्ति दौड़ती है। इस कार्य–विधि को निरंतर प्रोत्साहन मिलने से वह इतनी प्रबल हो जाती है कि आत्मा की पुकार के स्थान पर मन की तृष्णा ही प्रधानता प्राप्त कर लेती है।

मन और अंतःकरण के मेल अथवा एकता से ही आनंद प्राप्त हो सकता है। इस मेल अथवा एकता को एवं उसकी कार्य–पद्धति को योग साधना कहते हैं। यह योग साधना प्रत्येक उच्च प्रवृत्तियों वाले साधक के जीवन का नित्य कर्म होना चाहिए। भारतीय संस्कृति के अनुसार सच्ची सुख–शांति का आधार योग–साधना ही है। योग द्वारा सांसारिक संघर्षों से व्यथित मनुष्य अंतर्मुखी होकर आत्मा के निकट बैठता है, तो उसे आत्म शांति का अनुभव होता है।

उपुर्यक्त पंक्तियों से भारतीय योग पद्वति की महत्ता पर कुछ प्रकाश पड़ता है। योग पूर्वीय दृष्टिकोण का मनोविज्ञान है। इसके अनुसार मनुष्य को अपनी वासना को परमात्मा में लय कर देना और इस प्रकार ऊँचा उठना चाहिए। भारतीय मनोविज्ञान की यह योग पद्धति ही श्रेष्ठ है, क्योंकि इससे मनुष्य की रुचि और प्रवृत्ति ऊँची रहती है। सात्विकता, देवत्व को विकसित होने का प्रचुर अवसर मिलता है। योग साधना का प्रथम लाभ तो यह हुआ कि मन शांत हो जाता है। अशांत मन में योग का आधार नहीं हो सकता। विचारों का तूफान आने पर भी योगी का मन स्थिर और अविचल बना रहता है। दूसरा लाभ एकाग्रता

है। निरंतर ध्यान और चिंतन करने में एकाग्रता की वृद्धि होती है। आध्यात्मिक शक्तियाँ बढ़ती हैं। आजकल की पाश्चात्य मनोविज्ञान की प्रणालियाँ जैसे साइकोथिरैपी, मेस्मेरिज्म, थाटरीडिंग, क्लेरोवेंस आदि सभी योग द्वारा संभव हैं।

आज योग विद्या के सही दृष्टिकोण को निखारने की अतीव आवश्यकता है। आसन और प्राणायाम मात्र ही करना आजकल योग हो गया है, पर वास्तविक महत्व आंतरिक साधना का ही है। उस समय योगी मृगछाला पहनते थे जो कि आसानी से मरे पड़े हुए मृगों से मिल जाती थी। आजकल बंदूक की गोली से मरे हुए जानवर की खाल होती है। यह निंदनीय है। अब चिमटे की आवश्यकता ही नहीं रह गई है। योगिराज अरविंद, महात्मा गाँधी, स्वामी दयानंद जी, स्वामी शिवानंदजी आदि की तरह का सीधा–साधा जीवन ही उपयुक्त है।

दानशीलता

भारतीय संस्कृति परमार्थ और परोपकार को प्रचुर महत्व देती है। जब अपनी सात्विक आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाए, तो लोक–कल्याण के लिए, दूसरों की उन्नति के लिए दान देना चाहिए। प्राचीन काल में ऐसे निस्वार्थी लोक–हित निरत ऋषि, मुनि, ब्राह्मण, पुरोहित, योगी, सन्यासी होते थे, जो समस्त आयु लोकहित के लिए दे डालते थे। सदा दूसरों की सेवा सहायता करते रहते थे। कुछ विद्यादान, पठन–पाठन में आयु व्यतीत करते थे। उपदेश द्वारा जनता की शिक्षा, स्वास्थ्य, उद्योग, सहयोग, सुख–सुविधा, विवेक, धर्मपरायणता आदि सद्‌गुणों को बढ़ाने का प्रयत्न किया करते थे। मानवीय स्वभाव में जो सत् तत्व हैं, उसी की वृद्धि में वे अपना अधिकाँश समय

व्यतीत करते थे। ये ज्ञानी उदार महात्मा अपने आप में जीवित कल्याण की संस्थाएँ थे, यज्ञ रूप थे। जब ये जनता की इतनी सेवा करते थे, तो जनता भी अपना कर्त्तव्य समझकर इनके भोजन, निवास, वस्त्र, संतान का पालन–पोषण का प्रबंध करती थी। जैसे लोक हितकारी संस्थाएँ आज भी सार्वजनिक चंदे से चलाई जाती हैं, उसी प्रकार ये ब्राह्मण, ऋषि, मुनि भी दान, पुण्य, भिक्षा आदि द्वारा निर्वाह करते थे। प्राचीन भारतीय ऋषि मुनियों का व्यक्तित्व इतना उच्च, पवित्र और प्रवृत्ति इतनी सात्विक होती थी कि उनके संबंध में किसी प्रकार के संदेह की कल्पना तक नहीं की जा सकती थी, क्योंकि उन्हें पैसा देकर जनता उसके सदुपयोग के विषय में निश्चिंत रहती थी। हिसाब जाँचने की आवश्यकता तक न समझती थी। इस प्रकार हमारे पुरोहित, विद्यादान देने वाले ब्राह्मण, मुनि, ऋषि, दान–दक्षिणा द्वारा जनता की सर्वतोमुखी उन्नति का प्रबंध किया करते थे। दान द्वारा उनके जीवन की आवश्यकताएँ पूरी करने का विधान उचित था। जो परमार्थ और लोकहित, जनता की सेवा सहायता में इतना तन्मय हो जाए कि अपने व्यक्तिगत लाभ की बात सोच ही न सके, उसके भरण–पोषण की चिंता जनता को करनी ही चाहिए।

इस प्रकार दान देने की परिपाटी चली। कालांतर में उस व्यक्ति को भी दान दिया जाने लगा जो अपंग, अंधा, लंगड़ा, लूला, अपाहिज या हर प्रकार से लाचार हो, जीविका उपार्जन न कर सकें। उन्हें भिक्षा ग्रहण करनी भी चाहिए, क्योंकि जीवन धारण करने के लिए अन्य कोई साधन ही शेष नहीं रहता। इस प्रकार दो रूपों में दूसरों को देने की प्रणाली प्रचलित रही है, १–ऋषि–मुनियों, ब्राह्मणों, पुरोहितों, आचार्यों, सन्यासियों को दी जाने सहायता को आर्थिक सहायता का नाम रखा गया–

दान, अपंग, लंगड़े, लूले कुछ भी कार्य न कर सकने वाले व्यक्तियों को दी जाने वाली सहायता को भिक्षा कहा गया है। दान और भिक्षा दोनों का ही तात्पर्य दूसरे की सहायता करना है। पुण्य, परोपकार, सत्कार्य, लोक–कल्याण, सुख–शांति की वृद्धि, सात्विकता का उन्नयन तथा समष्टि की, जनता की सेवा के लिए ही दोनों का उपयोग होना चाहिए।

दूसरों को देने का क्या तात्पर्य है? भारतीय दान परंपरा और कुछ नहीं, उधार देने की एक वैज्ञानिक पद्धति है। जो कुछ भी हम दूसरों को देते हैं, वह हमारी रक्षित पूँजी की तरह जमा हो जाता है। अच्छा दान वह है, जो जरूरतमंदों को दिया जाता है। बिना जरूरत मंद को देना कुछ विशेष महत्व नहीं रखता। कुपात्रों को धन देना व्यर्थ है। जिसका पेट भरा हुआ हो, उसे और भोजन कराया जाए, तो वह बीमार पड़ेगा और अपने साथ दाता को भी अधोगति के लिए घसीटेगा। भारतीय संस्कृति के अनुसार दान देना बहुत ही उत्तम धर्म–कर्म है। जो अपनी रोटी दूसरों को बाँट कर खाता है, उसको किसी बात की कमी नहीं रहती! जो अपने पैसे को जोड़–जोड़कर, ज़मीन में गाड़ते हैं, उन पाषाण हृदयों को क्या मालूम होगा कि दान देने में कितना आत्म–संतोष, कितनी मानसिक तृप्ति मिलती है। आत्मा प्रफुल्ल हो जाती है। मृत्यु बड़ी बुरी लगती है, पर मौत से बुरी बात यह है कि कोई व्यक्ति दूसरे को दुःखी देखे, भोजन के अभाव में रोता–चिल्लाता या मरता हुआ देखे और उसकी किसी प्रकार भी सहायता करने में अपने आपको असमर्थ पाए। हिंदूशास्त्र एक स्वर से कहते हैं कि मनुष्य जीवन में परोपकार ही सार है। हमें जितना भी संभव हो, सदैव परोपकार में रत रहना चाहिए, किंतु यह दान अभिमान, दंभ, कीर्ति के लिए नहीं, आत्म–कल्याण के लिए ही होना चाहिए। मेरे कारण दूसरों का भला

हुआ है, यह सोचना उचित नहीं है। दान देने से स्वयं हमारी ही भलाई होती है। हमें संयम का पाठ मिलता है। यदि आप दान न भी दें, तब भी संसार का काम तो चलता ही रहेगा। परमात्मा इतना विपुल भंडार लुटा रहे हैं कि हमारी छोटी सी सहायता के बिना भी जनता का कार्य चल ही जाएगा। आप यदि न देंगे, तो कोई भिखारी भूखा नहीं मर जाएगा। किसी प्रकार उसके भोजन की व्यवस्था हो ही जाएगी, लेकिन आपके हाथ से दूसरों के उपकार करने का एक अवसर जाता रहेगा। हमारी उपकार भावना कुंठित हो जाएगी। दान से जो मानसिक उन्नति होती, आत्मा को जो शक्ति प्राप्त होती, वह दान लेने वाले को नहीं, वरन् देने वाले को प्राप्त होती है। दूसरों का उपकार करना मानों एक प्रकार से अपना ही कल्याण करना है। किसी को थोड़ा सा पैसा देकर भला हम उसका कितना भला कर सकते हैं? किंतु उसकी अपेक्षा हम अपना भला हजार गुना कर लेते हैं। हमारी उदारता का विकास हो जाता है। आनंद स्रोत खुल जाता है।

दान आत्मा का दिव्य गुण है। दानशीलता की सात्विक भावना जिस पुरुष के अंतःकरण में प्रवेश करती है, उसे उदार बना देती हैं। उसे प्रकाश का पुंज बना देती है। दान रुपए पैसे रोटी भोजन कपड़े का ही नहीं, श्रम का भी हो सकता है। सच्चा दानी लोक–उपकार को प्रमुखता देता है। वह दधीचि की तरह अपनी हड्डियाँ लोक–उपकार के लिए दान दे देता है। नारद जी की तरह दिन रात धर्म का प्रचार करता है, व्यास जी की तरह अपनी आयु सद्ग्रंथों की रचना में लगा देता है? द्रोणाचार्य की तरह शस्त्र विद्या का प्रचार करता है। पाणिनी की तरह व्याकरण बनाता है, बुद्ध की तरह प्रेम धर्म का उपदेश देता है। इस प्रकार सच्चा दानी समय और देश की आवश्यकताओं के

अनुसार अपनी बुद्धि, योग्यता, कला, प्रतिभा, शक्तियों का दान करता रहता है।

दान लेना और दान देना दोनों ही महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व हैं, दान करते समय पात्र व्यक्ति को ही दान देना चाहिए और दान लेते समय भी यह देख लेना चाहिए कि दानकर्त्ता किस वृत्ति का है। उसका कार्य–व्यवसाय क्या है, कहीं अनीति–उपार्जित धन तो दान नहीं कर रहा है। पक्ष को देखिए। भिक्षावृत्ति या दान लेना एक बड़ा उत्तरदायित्व है, जिसका भार उठाने का साहस बहुत कम व्यक्तियों में होता है। शास्त्रकारों ने भिक्षा की उपमा अग्नि से दी है। जैसे अग्नि का प्रयोग बड़ी सावधानी से करना चाहिए अन्यथा बड़ी हानि और उत्पात कर सकती है, इसी प्रकार भिक्षा या दान लेने से पूर्व खूब सोच–समझ कर लेना चाहिए। जिससे आप कुछ भी दान लेते हैं, उसको श्रम या बुद्धि दुगुने रूप में लौटाने को प्रस्तुत रहना चाहिए। अपनी आवश्यकताएँ बहुत ही कम रखनी चाहिए। दाता की सेवा, सहायता, कठिनाइयाँ हल करने का उद्योग करना चाहिए या सद्भावना या आशीर्वाद के रूप में बहुमूल्य उपदेश देते रहना चाहिए।

भिक्षा के दो प्रयोजन बताए हैं–एक तो यह कि दान देने से देने वाले को त्याग का, परोपकार का, आत्मसंतोष प्राप्त होता है। दूसरा यह कि उन ऋषि कल्प ब्राह्मणों को अपने अभिमान और अहंकार के परिमार्जन करते रहने का अवसर प्राप्त होता है। प्राचीन काल में लोक–सेवक, परोपकारी तथा

महात्मा अहमन्यता उत्पन्न न होने देते थे। देने वाले अपना मान अनुभव करते थे और लेने वाले निरभिमान बनते थे। इससे उन दोनों के बीच सुदृढ़ सौहार्द्र बढ़ता था। भिक्षावृत्ति करने वाले की अपेक्षा देने वाले को ही अधिक लाभ रहता था। इस परमार्थ की भावना से ब्रह्मजीवी महात्माओं के लिए भिक्षा का विधान किया गया था। यथार्थ में यह भिक्षा उचित भी थी, शास्त्र सम्मत भी।

आजकल दान–वृत्ति से अनुचित लाभ उठाने वाले अनेक अकर्मण्य, भिखमंगे, ठग, दुष्ट व्यक्ति लोगों को ठगते फिरते हैं। वह स्वयं तो परिश्रम करना नहीं चाहते, मुफ्त का माल उड़ाना चाहते हैं। पिछले वर्ष भिखारियों की संख्या ८० लाख के लगभग पहुँच गई थी। इसमें कष्ट पीड़ितों की संख्या तो अल्प है, अधिकतर तो वे ही व्यक्ति हैं, जो दूसरों के श्रम का अनुचित लाभ उठाते हैं, धर्म के नाम पर नाना प्रकार के आडंबर, घृणित मायाचार और असत्य व्यवहार कर भिक्षावृत्ति करते हैं। इससे समाज में विषैला, अनिष्टकारी वातावरण फैलता है। ऐसा करने से झूठ, पाखंड, ढोंग, नशेबाजी फैलती है। अतः हमारा यह कर्त्तव्य है कि धर्म के नाम पर मुफ्त का माल उड़ाने वाले इन लुटेरों से सावधान रहें। सत्पात्र को, जरूरतमंद को, अपंग, अपाहिज कुछ काम न कर सकने वाले बीमार को दान करें। जितना संभव हो सके, जैसे संभव हो सहायता करें। हमारे यहाँ कहा गया है–

''दानशूरो विशिष्यते''

दानवीर पुरुष ही अन्य सब पुरुषों से विशिष्ट है।

भारतीय संस्कृति में सामाजिक पक्ष

हमारे सामाजिक पक्ष में भी भारतीय संस्कृति वैज्ञानिक आधारों पर खड़ी हुई है। भारतीय तत्व विज्ञानियों ने सामाजिक क्षेत्र में बहुत खोज–बीन करके ऐसे नियम निर्धारित किए थे, जो प्रचुर फल देने वाले हैं और आज भी जिनसे समग्र हिंदू जाति लाभ उठा रही है। हमारे शास्त्रों में आचार को परम धर्म कहा गया है। भारतीय तत्त्ववेत्ता यह मानते हैं कि जो सिद्धांत अथवा विचार आचरण में नहीं आ सकते, वे उपयोगी नहीं हैं और जो धर्म व्यवहार में नहीं आता, जिससे हमारा दैनिक जीवन और समस्याएँ हल नहीं होतीं, जीवन सुख–शांतिमय नहीं बनता, हम उसे ''धर्म'' नहीं कह सकते। हमारी संस्कृति में धर्म के अंतर्गत उन सिद्धांतों को स्थान दिया गया है, जिनसे हमारा नैतिक और आध्यात्मिक ही नहीं, वरन् सामाजिक जीवन भी उन्नत बनता है। वर्तमान युग संक्रांति और संघर्ष का युग है। यदि हम भारतीय आचार परंपरा को बचाना चाहते हैं, तो हमें अपनी संस्कृति में घुसे हुए दोषों को दूर कर पूरी श्रद्धा से पूर्वजों की परिपाटी को ग्रहण करना होगा।

एक युग ऐसा आया था कि भारतीय संस्कृति को वाम–मार्ग से कड़ा मुकाबला करना पड़ा था। आर्य संस्कृति के समर्थकों ने अपने उज्ज्वल चरित्र के बल पर वाम–मार्ग के प्रभाव को रोक दिया था। आज पुनः वही विचार धारा नूतन रूप में पाश्चात्य संस्कृति की वेश–भूषा में हमारे **सम्मुख** आई है। भौतिकता और कम्यूनिज्म के प्रचारक खुले आम पुराने आचार–विचार का विरोध कर रहे हैं, लेकिन हमारा विश्वास है कि भारतीय संस्कृति के पुष्ट सामाजिक पक्ष के सम्मुख इस भौतिकवाद की बालू की दीवार न ठहर सकेगी। भारतीय

समाज की आधार–शिला सदाचार पर ही आसीन है। इसलिए उसका धर्म बतलाते हुए प्रथम सूत्र "आचारः परमोधर्मः" कहा गया है। हमारे यहाँ चार वर्ण और चार आश्रमों की व्यवस्था रही है। इसकी उत्कृष्टता पर यहाँ संक्षेप में विचार प्रस्तुत किए जाते हैं।

सर्वोपयोगी वर्णाश्रम व्यवस्था

चार वर्ण

वेदों में वर्ण व्यवस्था का विधान रखा गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों में संपूर्ण समाज विभक्त कर दिया गया है। चारों वर्णों का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक अपना निर्धारित कार्य मिल बाँट कर पूरी कुशलता से संपन्न करे। यदि एक व्यक्ति एक प्रकार का कार्य पूरा मन लगाकर करता है, तो उसमें कुशलता और विशेषज्ञता मिल जाती है। बार–बार कार्य को बदलते रहने से कुछ भी लाभ नहीं होता, न काम ही अच्छा बनता है। अतः वेदों में चारों वर्णों के कर्मों का पृथक–पृथक वर्णन है–

"ब्रह्म धारय क्षत्रं धारय" यजुर्वेद ३८–१४

अर्थात् हमारे हित के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को धारण करो।

उस विराट पुरुष (ईश्वर) के ब्राह्मण मुख है, क्षत्रिय भुजाएँ हैं, वैश्य उरु हैं और शूद्र पैर हैं।

महाभारत काल में वर्ण व्यवस्था प्रचलित थी। चारों वर्णों के कर्त्तव्य अनेक स्थलों पर बतलाए गए हैं। यह भी वर्णन आता है कि सारे वर्ण अपने–अपने वर्णानुसार कर्म करने में तत्पर

रहते थे और इस प्रकार आचरण करने से धर्म का ह्रास नहीं होता था। गीता में व्यवस्था का उल्लेख इस प्रकार किया गया है–

''चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।''गीता ४–१३

''मैंने गुण–कर्म के भेद से चारों वर्ण बनाए।'

इस प्रकार गुण–कर्म के अनुसार हमारे यहाँ वर्णों का विधान है। ब्राह्मण वह है, जो अपनी विद्या, बुद्धि और ज्ञान से समाज के अज्ञान और मूढ़ता को दूर करने का प्रयास करता है, जो कमजोरी या दुर्बलता की कमी की पूर्ति करता है, वह क्षत्रिय है। सारे समाज की रक्षा का भार उस पर है। आर्थिक अभाव की पूर्ति करने वाला वैश्य है। कृषि, वाणिज्य और गौ रक्षा द्वारा समाज को संपन्न बनाना, वैश्य कर्म कहा गया है। चौथा वर्ण शूद्रों का है। वास्तव में शूद्र वह है जिसमें बुद्धि या विवेक, दूरदृष्टि इत्यादि नहीं है, जिससे वह स्वयं स्वतंत्र कार्य कर सके। अतः वह उपर्युक्त तीनों वर्णों की सेवा सहयोग और सहायता ही कर सकता है। इन उद्देश्यों को दृष्टिगत रखते हुए गुण–कर्म, स्वभाव से ही चारों वर्णों की स्थापना की गई है। तीन उच्च वर्णों की पृथकता और उज्ज्वलता स्पष्ट करने के लिए जनेऊ का विधान किया गया था, लेकिन कालांतर में यह वर्ण व्यवस्था कठोर बन गई और जन्म से ही वर्ण का निर्णय होने लगा, जो उचित नहीं था। जिसके जैसे गुण, कर्म हों, उन्हें उसी वर्ण के अनुरूप कार्य और सामाजिक सम्मान मिलना चाहिए। जिस व्यक्ति में अपने वर्ण के अनुकूल गुण–कर्म न हों, उन्हें उस वर्ण में शामिल नहीं करना चाहिए। पुराणों में भी जाति बदलने का उल्लेख मिलता है। जैसे विश्वामित्र जन्म से क्षत्रिय थे, पर अपने विद्या, बुद्धि, उच्च सांस्कृतिक वैभव और ज्ञान साधना के बल से ब्राह्मण बने थे।

हमारी जाति–पाँति काम का विभाजन मात्र है। जो जैसा कार्य करना जानता हो, वह वैसा ही कार्य करे, वैसी ही जाति में शामिल समझा जाए। आज इस व्यवस्था का दुरुपयोग हो रहा है। हमारे यहाँ अनेक उपजातियाँ बन गई हैं। ब्राह्मणों में ही अनेक भेद हैं। केवल सारस्वत ब्राह्मणों की ही ४६९ शाखाएँ हैं। क्षत्रियों की ९९० और वैश्यों तथा शूद्रों की तो इससे भी अधिक उपजातियाँ हैं। इस संकुचित दायरे के भीतर ही विवाह होते रहते हैं। फल यह हुआ कि योग्यता या शुद्धाचरण न होते हुए भी अपने को ऊँचा और पवित्र मानने लगे हैं और कुछ अपने को नीच और अपवित्र समझने लगे हैं।

गुण, कर्म ही आदर तथा उच्चता के मापदंड हैं। गुण का ही सामाजिक सम्मान होना चाहिए, न कि जन्म का। शूद्र वर्ण का कोई व्यक्ति यदि अपनी योग्यता, विद्या बढ़ा लेता है, तो उसका भी ब्राह्मण के समान आदर होना चाहिए। जन्म के कारण कोई बहिष्कार के योग्य नहीं है। महाभारत में युधिष्ठिर और यक्ष के संवाद में कहा गया है–

''मनुष्य जन्म से ही ब्राह्मण नहीं बन जाता, न वह वेदों के ज्ञान मात्र से ब्राह्मण बन जाता है। उच्च चरित्र से ही मनुष्य ब्राह्मण जाना जाता है।''

मनुस्मृति का वचन है–

''विप्राणां ज्ञानतो ज्येष्ठम् क्षत्रियाणां तु वीर्यतः''

अर्थात्–ब्राह्मण की प्रतिष्ठा ज्ञान से है तथा क्षत्रिय की बल–वीर्य से। जावालि का पुत्र सत्यकाम, जावालि अज्ञात वर्ण के होते हुए भी सत्यवक्ता होने के कारण ब्रह्म विद्या का अधिकारी समझा गया है। अतः वर्ण व्यवस्था की संकीर्णता छोड़ देने योग्य है। गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार ही वर्ण का

निर्णय होना चाहिए।

चार आश्रम

भारतीय संस्कृति ने जीवन के हर क्षेत्र पर गंभीरता से विचार किया है। संपूर्ण जीवन को सौ वर्षों का मानकर २५–२५ वर्षों के चार भाग बना दिए हैं। प्रथम पच्चीस वर्ष शरीर, मन, बुद्धि के विकास के लिए रखे गए हैं। इस आश्रम का नाम **ब्रह्मचर्य** है। इन वर्षों में युवक या युवती को संयमी जीवन बिताकर आने वाले सांसारिक जीवन के उपयुक्त शक्ति संचय करना पड़ता था। वह मूलतः एक विद्यार्थी ही होता था, जिसका कार्य प्रधान रूप से शारीरिक, मानसिक और नैतिक शक्तियाँ प्राप्त करना था। यह ठीक भी है, जब तक हर प्रकार की शक्तियाँ एकत्रित कर मनुष्य सुसंगठित न बने, जब तक उसकी बुद्धि और मन, शरीर इत्यादि की शक्तियों का पूरा–पूरा विकास न हो, वह पूरी तरह चरित्रवान, संयमी, दृढ़निश्चयी बने, तब तक उसे सांसारिक जीवन में प्रविष्ट नहीं होना चाहिए।

दूसरा आश्रम **गृहस्थ** है। २५ से ५० वर्ष की आयु गृहस्थ आश्रम के लिए है। पति–पत्नी धार्मिक जीवन व्यतीत करते हुए पूरी जिम्मेदारी से अपने नागरिक कर्त्तव्यों का पालन करते थे। परिवार के प्रति अपनी जिम्मेदारी को पूरी करते थे। अपने व्यवसाय में दिलचस्पी लेकर आनंदमय जीवन व्यतीत करते थे। धर्माचरण द्वारा गृहस्थ जीवन के सुख प्राप्त करते थे। धर्म, अर्थ, काम मोक्ष आदि चारों का सुख भोग करने का विधान है।

उम्र ढलने पर सांसारिक कार्यों से हटना चाहिए। लेकिन इस पृथकता में समय लगता है। धीरे–धीरे भौतिक जीवन की आवश्यकताएँ कम करनी होती हैं। अतः ५० से ७५ वर्ष की आयु में गृहस्थ भार से मुक्त होकर जन–सेवा का विधान है।

इसे **वानप्रस्थ** कहा गया है। गृहस्थ जीवन की जिम्मेदारियों से मुक्ति पाना मनुष्य की मानसिक शांति के लिए परम उपयोगी है। पारमार्थिक जीवन के लिए पर्याप्त समय निकल आता है। वानप्रस्थ का अर्थ यह भी है कि घर पर रहते हुए ही मनुष्य ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करे, संयम का अभ्यास करे, बच्चों को विद्या पढ़ाए, फिर धीरे–धीरे अपनी जिम्मेदारी, अपने बच्चों पर डालकर बाहर निकल जाए। पूर्ण परिपक्व व्यक्ति ही घर से बाहर सन्यासी के रूप में निकल कर जनता के हित के लिए नाना कार्य कर सकता था। चिकित्सा, धर्म–प्रचार और पथ दर्शन का कार्य इन योग्यतम सन्यासियों के हाथ में ही रहता था। समाज उन्नति की दिशा में आगे बढ़ता था। आज जैसे कम उम्र के अनुभव विहीन, दिखावटी धर्म–प्रचारक उन दिनों नहीं थे। वे पैसा–कौड़ी भी नहीं लेते थे और काम पूरे मन से करते थे। आज इतना व्यय करने पर भी वह लाभ नहीं होता। सन्यासी की पहचान भी ज्ञान ही है।

यह आश्रम व्यवस्था भारतीय मनोवैज्ञानिकों की तीव्र बुद्धि कौशल की सूचक है। व्यावसायिक दक्षता प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य पूरे परिश्रम और लगन से २५ वर्ष तक सीखे। उस कार्य की गुप्त बारीकियों को देखे, समझे और तब उसमें प्रविष्ट हो। पच्चीस वर्ष तक तप जाने से मनुष्य आगे आने वाले जीवन के लिए मजबूत बन जाता था, जिम्मेदारियों, अच्छाइयों, बुराइयों को समझ जाता था। आश्रम परिवर्तन का तात्पर्य उनके मन में धीरे–धीरे मानसिक परिपक्वता आती थी और अगला आश्रम आसान बनता जाता था। चुनाव और सोचने के लिए भी पर्याप्त अवकाश प्राप्त हो जाता था। ऐसा होता था कि सीधे ब्रह्मचर्य से कुछ उपकारी व्यक्ति वानप्रस्थी हो जाते थे और सन्यास ले लेते थे। तात्पर्य यह है कि एक आदर्श मार्ग–

दर्शन का रूप हमारे इन वर्णाश्रमों में रखा गया था, आज इस व्यवस्था में गड़बड़ी आ गई है। इस कारण तपे हुए अनुभवी वृद्ध कार्यकर्त्ता समाज को नहीं मिल रहे हैं। उपदेशकों और प्रचारकों में अर्थमोह या प्रसिद्धि का मोह बना हुआ है।

खानपान

भारतीय संस्कृति यह मानती है कि ''आहार शुद्धो सत्त्वशुद्धिः।'' अर्थात्–भोजन की शुद्धि होने पर मानव का अंतरात्मा शुद्ध होता है। ''अन्नमय हि सौम्य मनः।'' अर्थात्–हे सौम्य! अन्न से ही मन बनता है। जैसा अन्न खाया जाता है, मन, बुद्धि, भावना, विचार, कल्पना इत्यादि वैसा ही हो जाता है।

खान पान के संबंध में हमारा आदर्श यह रहा है कि ईमानदारी की कमाई ही खाई जाए, बेईमानी, असत्य तथा धोखेबाजी से अर्जित जीविका से बचा जाए–

''रमतां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापोस्ता अनीनशम्।''

अर्थात्–पुण्य से कमाया हुआ धन ही मनुष्य को सुख–समृद्धि देता है। जो पापयुक्त धन है, उसको मैं नाश करने वाला बनूँ।

हम अन्न को देवता रूप समझ कर ग्रहण करते रहे हैं। मनुस्मृति में कहा गया है कि ''अन्न ब्रह्म है'' यह समझकर उसकी उपासना करनी चाहिए। दोनों हाथ और दोनों पाँव और मुख को अच्छी तरह स्वच्छ कर ब्रह्म–चिंतन कर भोजन ग्रहण करना चाहिए। पहले भोजन का पूजन करना चाहिए। उसे देखकर हर्षयुक्त होना चाहिए और प्रसन्नतापूर्वक अभिनंदन करते हुए उसे ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि अन्न ब्रह्म है, रस विष्णु है और खाने वाला महेश्वर है।

भोजन केवल क्षुधा निवारण का साधन है, स्वाद या चटोरेपन के लिए नहीं है। वह भी ईश्वर की उपासना का एक अंग है। अतः भोजन में कोई अपवित्र वस्तु ग्रहण नहीं करनी चाहिए। हमारी संस्कृति में भोजन की आंतरिक स्वच्छता को अधिक महत्व दिया है। सर्वप्रथम तो स्थान स्वच्छ होना चाहिए, फिर बनाने वाले की मनःस्थिति पवित्र होनी चाहिए। अतृप्त, भूखा, लालची, निम्न जाति का व्यक्ति या गंदा रसोइया अपने संपर्क से ही भोजन को दूषित कर देता है। माता, पत्नी या बहिनों द्वारा बनाए हुए भोजन में प्रायः वे सब वृत्तियाँ मिल जाती हैं। भोजन से पूर्व एक छोटी सी प्रार्थना कर उसे ब्रह्मार्पण करने का विधान है। सच्चा हिंदू भोजन सामने आने पर नेत्र मूँद कर ईश्वरीय चिंतन करते–करते यह मंत्र उच्चारण करता है–

''तेजोऽसि सहोऽसि बलमसि भ्राजोऽसि देवनां धामनामसि विश्वायुः।''वेद

अर्थात्–हे अन्न! तुम (तेज) वीर्य हो, तुम बल हो, तुम दीप्ति हो, तुम चराचर विश्वरूप हो, तुम ही विश्व के जीवन हो।

''ॐ द्यौस्त्वा परिददातु ॐ पृथिवी त्व गृह्णातु।''

अर्थात्–हे अन्न, आकाश तुझे देता है और पृथ्वी तुझे ग्रहण करती है।

''ॐ अन्नपतेऽन्नस्य नो धेह्यानमीवस्य शुष्मिणः प्र प्रदातारं तारिष उर्जन्नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे।''

अर्थात्–हे अन्नपते अग्ने। इस यज्ञ का भाग हमें दीजिए।

गृहस्थ योग

भारतीय संस्कृति में नारी अत्यंत मान और आदर सत्कार की पात्र है। महाभारत में कहा गया है–

''लालितानुगृहीता च स्त्री श्रीः भवति भारत।''

अर्थात्–सत्कार की हुई और प्यार से रखी हुई स्त्री साक्षात लक्ष्मी के समान होती है।

''स्त्रियस्तु मानमर्हन्ति ता म नयत मानवाः।''

अर्थात्–स्त्रियाँ मान के योग्य हैं। हे पुरुषो! उनका मान करो। नारी माता के रूप में संतान उत्पन्न कर मानव सृष्टि का क्रम चलाने वाली है, गृहिणी के रूप में पुरुष की सखा हैं, मंत्री है, उसके घर की व्यवस्था करने वाली है। धर्म के साधन एकत्रित करने वाली है। अपने स्वाभाविक गुण, वात्सल्य, दया, प्रेम, धैर्य, परिश्रम एवं स्वार्थ–त्याग के बल पर पुरुष वर्ग में शक्ति और उत्साह भरने वाली है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति में नारी के कन्यापन, मातृत्व तथा गृहिणी की पूजा की गई है, वह धर्म और स्वर्ग साधन तथा पुरुष की शक्ति मानी गई है। मनु जी ने तो यहाँ तक कहा है कि स्त्री–पुरुष मरण–पर्यंत धर्म, अर्थ आदि में परस्पर अभिन्न होकर रहें।

भारतीय नारी में सर्वाधिक महत्व जिस गुण को दिया गया है, वह पतिव्रत या सतीत्व है। संसार की सब नारियों से हिंदू नारी इस गुण में बढ़ी–चढ़ी है। ''सतीत्व'' इस एक गुण पर सब समस्याएँ केंद्रित हैं। आमरणांत हिंदू स्त्री एक ही व्यक्ति को पति रूप में चुनती है, उसी में अपना सर्वस्व अर्पण कर देती है, उसी को सुख–सर्वस्व मानती है, कबीर ने कहा है–

पतिव्रता मैली भली, काली कुचल कुरूप।
पतिव्रता के रूप पर, वारों कोटि सुरूप॥

धर्म की दृष्टि से जब नारी केवल एक ही व्यक्ति तथा उसके परिवार में अपने आप को केंद्रित कर देती है, तब पति

और संतान की उन्नति के लिए अधिक अवसर रहता है। इससे विशुद्ध विमल वंशों की इमारत बनती है, उत्तम संस्कार फूलते–फलते हैं। ऐसे परिवारों के व्यक्ति बहुत उन्नति करते हुए देखे जाते हैं। शुद्ध उत्तम संस्कारों की संतान नारी जाति की सर्वोत्तम देन है। सतीत्व धारण करने के लिए जिस भारतीय नारी ने अनेक कठिनाइयाँ सही हैं, हँसते–हँसते जीवन का बलिदान किया है, अग्नि में कूद कर पवित्रता की रक्षा की है। अपनी इंद्रियों को वश में रखते हुए उन्होंने पति पर निर्मल प्रीति रखी है, पर, पुरुष को तृणवत समझा है।

भारतीय दृष्टिकोण से पतिव्रता वह है, जो पति के अतिरिक्त अन्य किसी पुरुष से कोई संबंध नहीं रखती है, मर्यादाशील और लज्जा की रक्षा हो, ऐसे वस्त्र पहनती है, उत्तम दान–पुण्य करके सत्कीर्ति संपादन करती है, शील और अपनी पवित्रता की सदा रक्षा करती है। संतोष, समता, सहनशीलता, त्याग, विनय, सत्य, क्षमा आदि सद्‌गुणों को धारण करती है। धर्मनीति, सद्‌व्यवहार और कला–कौशल की शिक्षा स्वयं प्राप्त कर अपनी संतान को देती है, हर्ष–शोक में समान रहती है, सद्‌गुणवती और सुपात्र स्त्रियों की ही संगति करती है। इस प्रकार सतीत्व का गौरव बढ़ाने में हिंदू नारियों का प्रधान हाथ रहा है। कौशल्या, द्रोपदी, सीता, सुभद्रा, कुंती, शीलवती, पद्मावती आदि भारतीय सतियाँ पूज्य पद को प्राप्त हुई हैं। भारतीय नारी पूज्य है, जननी है, माता और मातृभूमि स्वर्ग से भी ऊँची है। जहाँ नारी की पूजा होती है, वहाँ देवत्व का वास होता है।

मनुष्य पर देव–ऋण, पितृ–ऋण और ऋषि–ऋण रहते

हैं। इनमें विवाह करके पितरों के श्राद्ध तर्पण के योग्य धार्मिक एवं सदाचारी पुत्र उत्पन्न करके पितृ ऋण को चुकाने में नारी का हाथ है। तभी मोक्ष मार्ग मिल सकता है।

ऊँच–नीच, जाति–पाँति और छुआछूत

कुछ व्यक्ति यह मानते हैं कि ऊँच–नीच का भाव हिंदू धर्म की उपज है, यह असत्य है। जाति–पाँति काम की बाँट है। जो व्यक्ति अपनी जीविका उपार्जन के लिए जैसा पेशा या व्यवसाय चुन ले, वह उसी वर्ग विशेष में सम्मिलित हो जाए। जो व्यक्ति बुद्धि में कुशाग्र है, लिखने–पढ़ने का काम कर सकता है, वह ब्राह्मण का काम करे। प्राचीन काल में हमारे यहाँ योग्यता ही ऊँचाई का माप दंड था। प्रायः यह होता था कि जो व्यक्ति समाज में कोई अपराध करता था, उनका कुछ दिन के लिए सामाजिक बहिष्कार कर दिया जाता था। उससे स्पर्श तक करना उचित नहीं समझा जाता था। जब सजा की अवधि समाप्त हो जाती थी, तो उसे पुनः समाज में मिला लिया जाता था। इस सामाजिक बहिष्कार के भय से कोई अपराध न करता था। बाद में दंड की व्यवस्था चल पड़ी और इस अपराधी वर्ग को बीच में अपवित्र समझा जाने लगा।

छुआ छूत और ऊँच–नीच की भावनाएँ बुरी हैं। समाज की उन्नति में बाधक हैं। वास्तव में गुण, योग्यता, सच्चाई, ईमानदारी, बुद्धि, आदि से जाति की पहचान होनी चाहिए, न कि जन्म से। अगर बालक किसी ऐसे व्यक्ति के घर जन्म ले लेता है जो कि कर्म से पिछड़ा है, और वह बालक आगे चलकर अच्छी योग्यता और बुद्धि को धारण कर लेता है, तो उसे उच्च जाति में ही गिना चाहिए। ऐसे तिरस्कार करना पिछड़ेपन की निशानी है। वास्तविकता में तिरस्कार तो उन लोगों का होना

चाहिए जो करते कुछ और दीखते कुछ और हैं। किसी वर्ग विशेष का तो तिरस्कार कदापि नहीं होना चाहिए। तिरस्कार करने से वह वर्ग हमेशा के लिए पिछड़ जाता है। यह राष्ट्र के लिए अहितकर होता है। ऊँच–नीच मूलक, जात–पाँत का विष सारे हिंदू समाज में फैल गया है। यह बड़े ही दुःख का विषय है। सभी प्राणी भगवान के हैं। कौन ऊँचा और कौन नीचा, अतः सब के साथ समान व्यवहार होना चाहिए। यदि किसी से कोई अपराध हो भी जाए तो उसे प्रायश्चित करा देना चाहिए। तदनंतर उससे भी अन्य जैसा सद्व्यवहार होना चाहिए। समाज में काम न कोई ऊँचा है, न नीचा। सामाजिक दर्जा सबका बराबर होने में ही कल्याण है।

भारतीय संस्कृति में गुण कर्म की प्रधानता

गुण, कर्म, स्वभाव से ही किसी व्यक्ति की लघुता और महानता को नापा जा सकता है। जिस प्रकार कलेक्टर का लड़का कलेक्टर और चपरासी का लड़का चपरासी होना जरूरी नहीं, इसी प्रकार किसी वंश में उत्पन्न होने वाले सभी व्यक्ति अपने पूर्वजों के समान ही हों, यह कोई आवश्यक नहीं। सर्वत्र कर्म की ही प्रधानता है। जो जैसे कार्य करता है, उसकी गणना उसी श्रेणी में होने लगती है। पूर्व काल में चारों वर्णों का निर्धारण इसी आधार पर हुआ था। इसके कुछ प्रमाण नीचे उपस्थित किए जाते हैं–

''एकवर्णमिदं पूर्व विश्वमासीद्युधिष्ठर।
कर्मक्रिया विशेषण चतुर्वर्ण प्रतिष्ठितम्॥''

पहले केवल एक ही वर्ण था। बाद में कर्म–क्रिया विशेष वश चार वर्ण हुए।

''एक एव पुरावेदः प्रणवः सर्ववाङ्मयः।
देव नारायणोनान्य एकोग्निर्वर्ण एव च॥''

भागवत

पहले सर्ववाङ्मय प्रणव ही एक मात्र वेद था। एक मात्र देवता नारायण था और कोई नहीं। एक मात्र लौकिक अग्नि ही अग्नि और एक मात्र हँस ही वर्ण था।

''आदौ कृतयुके वर्णे नृणां हँस इति स्मृतम।''

पुराण

प्रारंभ में सतयुग में मनुष्य की एक मात्र जाति हँस थी।

''अप्रंवृत्तिः कृतयुगे कर्मणोः शुभपापये।
वर्णाश्रम व्यवस्थाश्च न तदसिन न संङ्करः॥''

पुराण

उस सतयुग में पाप–पुण्य की सृष्टि नहीं हुई थी, वर्णाश्रम व्यवस्था नहीं थी। इसलिए उस समय वर्णसंकर भी नहीं था।

चातुर्वर्णस्य वर्णेन यदि वर्णे विभिद्यते।
सर्वेषा खलु वर्णानां दृश्यते वर्णशंकर॥
कामः क्रोधो भयं लोभः शोकश्चिन्ता क्षुधाश्रमाः।
सर्वेषां नः प्रभवति कस्माद्‌र्णो विभिद्यते॥
चिदमत्रपुरीषाणि श्लेष्मा पित्त सशोणित।
तनु क्षरति सर्वेषां कस्याद्वर्णों विभिद्यते॥
जंगमानायसंख्येयाः स्थावराणां च जातयः।
तेषां विविधवर्णानां कुतो वर्णविनिश्चयः॥

शांति–१८८/५

यदि रंग से ही वर्ण–भेद समझा जाए, तब तो सभी वर्णों में वर्णसंकर देखे जाएँगे। फिर हम सभी लोग काम, क्रोध, मद, लोभ, शोक, चिंता और भ्रम से पराभूत होते हैं, इसलिए वर्णभेद होते कैसे हैं? स्वेद, मूत्र, पुरीष, श्लेष्मा, पित्त और शोणित सभी

शरीरों में समान भाव से क्षरित हो रहे हैं, फिर वर्ण–भेद कैसे होता है? फिर विशेष प्रकार के स्थावर और जंगमों के वर्णों की विभिन्नता कैसे निश्चित होगी?

विवाह संस्कार

हिंदू संस्कृति में विवाह धर्म का एक अंग है। एक ओर यह सुव्यवस्थित सामाजिक जीवन का अंग मात्र है, तो दूसरी ओर सृष्टि–विस्तार का, स्त्रीत्व और पुरुषत्व का सम्मिलन है। हिंदू धर्म के अनुसार इस पुनीत संस्कार द्वारा पितृ–ऋण से मुक्ति और वंश रक्षा का विधान है। पाश्चात्य देशों में जो उच्छृंखलता है, भारत में उसे दूर कर सांसारिक व्यवस्था स्थिर करने के लिए विवाह–संस्कार का विधान है। एक पुरुष एक स्त्री से आयु पर्यंत वैवाहिक संबंध होने से वह सुसंस्कृत तथा सभ्य बनता है। पवित्रता का बंधन होने के कारण मनुष्य को अपनी काम–वासना को नियमित और संयमित करने का अच्छा अवसर मिल जाता है। काम–वासना का परिष्कार होता है। पत्नी के प्रति अपना धार्मिक उत्तरदायित्व छोड़ नहीं पाता। अपनी संतान के प्रति कर्त्तव्य पालन खुशी से करता है। विवाह द्वारा मनुष्य का स्वार्थ या अपने शरीर का ममत्व अपने शरीर से आगे बढ़ पत्नी, पुत्र, पुत्री, परिवार आदि में बँट जाता है। आत्म–भाव का दायरा बढ़ जाता है। वैवाहिक जीवन में कठिनाइयाँ आती हैं। जिम्मेदारियाँ निभानी पड़ती हैं। इसलिए कष्टों में धैर्य आदि सद्‌गुणों का विकास होता है।

पारिवारिक सौख्य भारतीय विवाह–संस्कार की देन है। परस्पर आदर और सम्मान की भावना इस प्रेम की आधारशिला है। हमारे यहाँ पति और पत्नी में अटूट अनुराग रहा है। यहाँ तक कि एक के वियोग में दूसरा रहना तक पसंद नहीं करता।

पद्धति में दिखावे या झूठे बनाव शृंगार का कोई महत्व नहीं है। पत्नी पति की आज्ञाकारिणी है। उचित बातों के साथ सदा सहयोग करती है। उसे हमारी संस्कृति में सहधर्मिणी और अर्द्धांगिनी माना गया है, न कि नीच वासनाओं की तृप्ति का साधन है। इस प्रकार के दांपत्य से अच्छी संतान पैदा होती है, जो देश, धर्म और जाति की सेवा के लिए सदा तैयार रहते है।

भारतीय शिष्टाचार

गुरुजनों के प्रति श्रद्धा हमारी संस्कृति का मूलाधार है। जो छोटे हैं, वे गुरुजनों के चरण स्पर्श कर अपनी श्रद्धा, विनय–शीलता और सभ्यता का परिचय देते हैं। गुरुजन छोटों को प्रेमपूर्वक आशीर्वाद देते हैं। वास्तव में इस शिष्टाचार में एक मनोवैज्ञानिक तथ्य छिपा हुआ है। प्रत्येक मनुष्य के मन में विचारों की प्रचंड शक्ति निवास करती है। यह विचारों की बिजली उनके संपूर्ण शरीर में निवास करती है। जब कोई छोटा पूज्य गुरुजनों का चरण स्पर्श करता है, तो विचारों का यह पुष्ट विद्युत प्रवाह उसके शरीर में प्रविष्ट हो जाता है और उससे चरण स्पर्श करने वाले का आत्मबल बढ़ जाता है। हमारे यहाँ बड़ों का मान करने की परिपाटी है। इसका एक उदाहरण भरत हैं, जिन्होंने अपने ज्येष्ठ भ्राता राम का जीवन भर बहुत आदर किया था। उनका उदाहरण ग्रहण करने योग्य है। अपने से बड़े तथा मान्य पुरुषों के साथ शांति, नम्रता और विनयशीलता का व्यवहार करना चाहिए। बातचीत के समय शिष्टाचार सूचक शब्द पंडित जी, बाबू साहब, श्रीमानजी आदि का प्रयोग करना चाहिए। उपकार होने के बदले में सदा–मैं आपका अनुग्रहीत हूँ, आपने बड़ा उपकार किया, आदि शब्दों का प्रयोग करना

चाहिए। आपके वचन, मधुर, शुद्ध और शिष्टतायुक्त होने चाहिए। हिंदू शिष्टाचार दूसरों के प्रति बड़ा शिष्ट, उदार और सभ्यता से भरा है। सम्मान सूचक शब्दों का हम सदा बहुलता से प्रयोग करते रहे हैं। यहाँ तक कि भिक्षुकों तक को, जिन्हें कुछ न भी देना हो, हम प्रेमपूर्वक हटाते रहे हैं।

स्वच्छता हमारे शिष्टाचार व्यवहार का प्रधान अंग है। हमारे रसोईघर की स्वच्छता प्रसिद्ध है। उसमें किसी प्रकार की गंदगी तो क्या, व्यर्थ के व्यक्तियों का बार–बार घुसना तक हमें पसंद नहीं रहा है। स्वच्छता और पवित्रता के कारण पवित्र स्थानों में जूते ले जाना हमारे यहाँ वर्जित है।

हमारे यहाँ कहा गया है–

''वृत्तेन हि भवस्यार्यो न धनेन विद्यया।''

न विद्या और न धन से बल्कि सदाचरण से ही मनुष्य आर्य बनता है।

भाषा, वेश और भाव

भाषा और वेश के साथ गुप्त रूप से एक विशेष प्रकार की विचारधारा, जीवन–पद्धति और संस्कृति से जुड़ी हुई रहती है। हम जो भाषा बोलते हैं, या जिस वेश में प्रायः रहते हैं, गुप्त रूप से उस वेश और भाषा में पाए जाने वाले सिद्धांतों और आदर्शों से भी प्रभावित होते रहते हैं।

भाषा के प्रत्येक अक्षर के पीछे स्वर और अर्थ का गुप्त भंडार छिपा हुआ रहता है। जब हम किन्हीं अक्षरों का उच्चारण करते हैं, तो उनका अर्थ किसी न किसी रूप में हमारे कार्य और चरित्र पर प्रभाव डालकर हमें अच्छा या बुरा बनाता है। भाषा में किसी जाति या राष्ट्र की संस्कृति निहित रहती है। विचारों

और आदर्शों का स्पष्टीकरण उस देश या राष्ट्र की भाषा के ही माध्यम से होता है। प्रत्येक राष्ट्र के अपने महापुरुष हुए हैं, जिनके कार्यों का विशद वर्णन उस देश या राष्ट्र की भाषा में होता है। जब कोई व्यक्ति इन व्यक्तियों के चरित्र की श्रेष्ठता के विचार बार–बार पढ़ता है, तो चुपचाप उसी प्रकार के संस्कार, उन्हीं विचारों में विश्वास और उन्हीं आदर्शों या संस्कृति की ओर उसका झुकाव होता जाता है। भाषा कोरी भाषा मात्र नहीं है, वरन् वे तो जीते जागते विचार हैं, जो चेतना में चिपक जाते हैं और चरित्र को मोड़ दे डालते हैं।

प्रायः जब कोई जाति दूसरी जाति को जीतती है, तो उस स्थान पर अपनी भाषा का बोझ लाद देती है। विजित जाति इस भाषा के साथ–साथ अपने आपको निर्बल और जीतने वाली जाति को श्रेष्ठ समझने लगती है। इससे विजित जाति की मानसिक दासता या दिमागी गुलामी बढ़ने लगती है। अधिक दिन तक कोई भाषा पढ़ते–पढ़ते मनुष्य उस जाति के विचारों को श्रेष्ठ और अपने आपको कमजोर और हीन समझने लगता है। भारत में जब मुसलमान आए, तो उन्होंने उर्दू फारसी का प्रचार किया और हिंदू जनता को भी इन्हीं भाषाओं में पढ़ने को प्रोत्साहित किया। राज्य का कार्य उर्दू में चला। इससे उर्दू फारसी के साथ–साथ मुसलमानी संस्कृति, मुसलमानी जीवन और वैसे ही विचारों को फैलाने में हिंदुओं की दिमागी गुलामी बढ़ाने में बहुत मदद मिली। ईसाई धर्म गुरुओं ने अंग्रेजी का प्रचार किया। जब भारत पर अंग्रेजी राज्य छा गया, तो अंग्रेजी को राज्य भाषा बनाया गया और उसी का प्रचार किया गया। इससे पाश्चात्य संस्कृति का प्रचार हुआ। भारतवासियों के मन में अपने प्रति हीनता और अंग्रेजों की महत्ता की भावनाएँ छा गईं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा और शिक्षा के साथ

संस्कृति जुड़ी हुई है। भारत की अतीत कालीन संस्कृति और मानवीय गुणों के विकास के लिए देववाणी संस्कृत और राष्ट्रवाणी हिंदी के उत्थान की अतीव आवश्यकता है। इन भाषाओं में आर्य जाति के पुनीत आदर्श, मानवी गुणों के विकास और अच्छे संस्कारों के निर्माण के लिए प्रचुर ज्ञान–संपदा भरी पड़ी है। सभ्य और सुसंस्कृत बनने का मार्ग संस्कृत और हिंदी साहित्यों का अध्ययन है। यह वह साहित्य है जो हमारे गुणों की अभिवृद्धि करने, हमारे आंतरिक विकास और उन्नति में सहायक ऊँचे आदर्शों पर ले जाने, संकीर्णता या खुदगर्जी से हटा कर सर्वोदय की भावना को दृढ़ करने वाला है। इससे जाति और देश की सेवा और कल्याण हो सकता है।

भारत के सुंदर भविष्य के लिए, उसकी आर्थिक और सांस्कृतिक प्रगति के लिए, नागरिकों को पुरानी संस्कृति से परिचित कराने के लिए यह नितांत आवश्यक है कि हम अपने देश और जाति के इतिहास को, अपनी भाषा और साहित्य को पढ़ें। इस प्रबंध का एक प्रमुख अंग संस्कृत अध्ययन करना तथा दूसरों को उसके लिए प्रोत्साहित करना है। संस्कृत ही में अधिकतर वह सामग्री है, जिसके आधार पर हम अपने जातीय स्वरूप को यथावत पहचान और जान सकते हैं। सहस्त्रों वर्ष से संस्कृत का आधारतल और पृष्ठभूमि वह अध्यात्मवाद रहा है, जो भारत की मानवता को विशेष देन है। भारत ने विश्व में प्रथम बार यह प्रकाशित किया था कि जगत की हर प्रकार की विपत्तियों, बाधाओं, कमियों और कठिनाइयों से मानव तब तक मुक्ति नहीं पा सकता, जब तक कि उसका जीवन सत्य की उपासना, सेवा का अटल व्रत और न्याय की अविचल निष्ठा नहीं बन जाता। जो बात भाषा के लिए कही गई है, वही देश के संबंध में भी है। पोशाक के साथ भी संस्कृति का निकट

संबंध है। प्रत्येक संस्कृति और धर्म की पोशाक अलग–अलग है। अंग्रेजी पोशाक पहनते ही मन में ऐंठ, अकड़, झूठी शान, विलासिता, शेखी के भाव उदय होते हैं। मुसलमानी पोशाक के साथ ऐश्वर्य, इंद्रिय भोग की प्रवृत्ति, विलासिता, कामना तृप्ति आदि भावनाएँ संयुक्त हैं। पोशाक, वेश–भूषा आदि के साथ किसी संस्कृति का इतिहास जुड़ा हुआ रहता है। मुसलिम और अंग्रेजी संस्कृतियाँ भोगवाद पर खड़ी हैं। इंद्रियों के नाना भोगों की अतृप्त इच्छा इन जातियों के मन को, उनके विचारों को, उनकी बुद्धि को भौतिक स्तर से ऊपर नहीं उठने देती। छोटी वस्तुओं, छोटे आदर्शों का स्वाद चखते–चखते वे ऊँची चीजों का स्वाद ही भूल गए हैं। इन संस्कृतियों की पोशाक में जो दिखावा, शेखी, सजावट, विलास इत्यादि है, वह मनुष्य की पंचेंद्रियों का सुख है।

आप अंग्रेजी पोशाक पहनिए, आप मन में स्वयं उन विचारों का अनुभव करेंगे, जो अंग्रेजों में होते हैं। मिलिटरी की पोशाक पहनते ही मनुष्य हिंसा, आतंक, दुष्टता और दूसरों पर अत्याचार तथा दंभ के भावों से भर जाता है। मुसलमान और ईसाई पोशाकों में उन्हीं जातियों के विश्वास, आकांक्षाएँ और व्यवहार आ जाते हैं। प्रायः देखा जाता है कि लड़कियाँ विवाह शादियों के अवसर पर जब कीमती पोशाकें पहनती हैं, तो उनमें मिथ्या दर्प और अभिमान बढ़ जाता है, चाल–ढाल अमीरों जैसी बन जाती है। बारातों में आने वाले व्यक्तियों के नाज नखरे प्रायः उनकी पोशाकों के कारण ही होते हैं। अतः मनुष्य अपने मन में जैसी संस्कृति को धारण करना चाहे, उसको वैसी ही पोशाक और वेश धारण करना चाहिए।

भारतीय पोशाक लंबा कुर्ता, धोती, चप्पल, बास्कट आदि इस देश के मौसम के अनुसार सस्ते और उचित हैं। इनमें

स्वच्छता और आराम भी अधिक रहता है और व्यर्थ के दिखावे से मनुष्य बचा रहता है। विद्या और सादगी भारत की अपनी विशेषताएँ रहीं हैं। कम से कम वस्त्र रखकर प्रकृति से तादात्म्य स्थापित करना, अपने शरीर को व्यर्थ के साज–शृंगार, टीप–टाप, फैशन परस्ती से दूर रखना, सादा जीवन और उच्च विचार धारण करना, यह हमारा दृष्टिकोण रहा है।

हालांकि दूसरे देशों ने जहाँ प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की भावना रखी है, भारत ने उसके साथ अपनापन स्थापित करने का विनीत प्रयत्न किया है। यहाँ के अनेक साधु–सन्यासी ही नहीं, अन्य व्यक्ति भी प्रकृति की गोद में आनंद लेते रहे हैं। प्रकृति के वन, लता, पर्वत, नदी, पशु, पक्षी के साथ में उन्होंने कभी अकेलेपन का अनुभव नहीं किया। भारत में नदी और पहाड़ पवित्र और पूज्य माने गए हैं। इसलिए उनके निकट ही तीर्थों और मंदिरों की स्थापना हुई है। वन और गाँव यहाँ की संस्कृति के सुंदर प्रतीक रहे हैं।

अतः ग्राभीण वेश भूषा, प्रकृति के सहचर्य में रहने से आने वाली सादगी, स्वच्छता, विनयशीलता और उदारता हमारी पोशाक में भी पाई जाती है। पोशाक में हमारे यहाँ टीपटाप को ओछेपन की निशानी माना गया है। कृत्रिमता, बनावटीपन, रंग–बिरंगे आधुनिक शृंगार प्रसाधनों से हमारे यहाँ विरक्ति रही है। भारतीय संस्कृति में मान्यता है कि जितनी ही कृत्रिमता हमारे अंदर आएगी और पोशाक के संबंध में जितनी ही अस्वाभाविकता को हम अपनाते जाएँगे, उतने ही उच्च जीवन से दूर हटते जाएँगे।

सादगी का अर्थ दीनता, हीनता या दरिद्रता नहीं है, वरन् यह है कि बिना आडंबर के उपयुक्त और आवश्यक वस्तुओं का शुद्धतापूर्वक प्रयोग करना। यह सादगी, स्वच्छता, निरभिमानिता

हमारे नित्य व्यवहार में मिली हुई होनी चाहिए। तड़क–भड़क के रंग–बिरंगे या बेढव फैशन के वस्त्र व्यर्थ थोथेपन के प्रतीक हैं। कम कपड़े पहनने चाहिए, पर उनकी सफाई का पूरा–पूरा ध्यान रखना चाहिए। भारतीय विचारकों की तो यह मान्यता है कि जेबर लादने की अपेक्षा तो कुछ अधिक कपड़े बनवा लेना और उन्हें स्वच्छ रखने पर थोड़ा व्यय करना अधिक उपयोगी है। मन, विचार, पोशाक और वातावरण की सादगी व स्वच्छता उच्च आध्यात्मिक जीवन की ओर खींच ले जाने की क्षमता रखते हैं। उन्नति की शुरूआत यहीं से की जानी चाहिए।

गायत्री, गौ, गीता और गंगा जी

भारतीय संस्कृति में गायत्री, गौ, गीता और गंगाजी का महत्वपूर्ण स्थान है। चारों माता रूप में श्रद्धा की केंद्र हैं। जिस प्रकार माता मनुष्य के लिए सदा कुछ न कुछ उपकार करती रहती है, उसी प्रकार ये चारों मानव जाति का सदा लाभ करने और उसे सन्मार्ग पर प्रतिष्ठित करने वाली माताएँ हैं। इनके द्वारा असंख्य गुणों तथा सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक लाभों का विधान है। आदर्श हिंदू इन चारों द्वारा आत्मा को शुद्ध करता है, वह शरीर और आत्मा को शुद्ध करता है। एक–एक माता के गुणों पर पृथक–पृथक विस्तार से विचार करना चाहिए।

गायत्री भारतीय संस्कृति का सनातन एवं अनादि मंत्र है। पुराणों में कहा गया है–

''सृष्टि कर्त्ता ब्रह्मा को आकाशवाणी द्वारा गायत्री मंत्र प्राप्त हुआ था। इसी की साधना का तप करके उन्हें सृष्टि–

निर्माण की शक्ति प्राप्त हुई थी। गायत्री के चार चरणों की व्याख्या स्वरूप ही ब्रह्माजी ने चार मुखों से वेदों का वर्णन किया। गायत्री को वेद–माता कहते हैं। चारों वेद माता की व्याख्या मात्र है।' गायत्री के अक्षरों में वेद, शास्त्र, पुराण, स्मृति, उपनिषद आदि की शिक्षाएँ दी गई हैं, जिनसे मनुष्य व्यक्तिगत, सामाजिक और परमार्थिक सुख–शांति प्राप्त कर सकता है। गीता में भगवान कृष्ण ने स्वयं कहा है–**''गायत्री छन्दसामहम्''** अर्थात्– गायत्री मंत्र मैं स्वयं ही हूँ। गायत्री सर्वश्रेष्ठ भारतीय मंत्र है, जिससे उसे आयु, विद्या, संतान प्राप्ति, धन और ब्रह्म–तेज प्रदान करने वाली कहा गया है। गायत्री की साधना द्वारा हमारी आत्मा पर जमे हुए मल विक्षेप हट जाते हैं और आत्मा का शुद्ध स्वरूप प्रकट होता है। अनेक ऋद्धि–सिद्धियाँ प्रकट होने लगती हैं। गायत्री मंत्र की उपासना आरंभ करते ही मनुष्य के आंतरिक क्षेत्र में आत्मिक बल बढ़ता है, दुर्भाव नष्ट हो जाता है। संयम, नम्रता, उत्साह, स्फूर्ति, श्रमशीलता, मधुरता, ईमानदारी, सत्यनिष्ठा, उदारता, प्रेम, संतोष, शांति, सेवा–भाव, आत्मीयता आदि सद्‌गुणों की मात्रा दिनों–दिन बढ़ने लगती है।

गायत्री को हमारे यहाँ भूलोक की कामधेनु कहा गया है, क्योंकि यह आत्मा की समस्त क्षुधा–पिपासाएँ शांत करती है। गायत्री को सुधा कहा गया है, क्योंकि यह जन्म और मृत्यु के चक्र से छुड़ाकर सच्चा अमृत प्रदान करने की शक्ति से परिपूर्ण है। गायत्री को पारसमणि कहा गया है, क्योंकि इसके स्पर्श से लोहे के समान कलुषित अंतःकरण शुद्ध हो जाते हैं। गायत्री उपासना से प्रमुखतः आध्यात्मिक उन्नति होती है। यही लाभ प्रमुख है। आत्म–कल्याण और सुख–शांति की दिशा में अग्रसर होने में गायत्री सहायक होती है।

गौ माता भारतीय संस्कृति की ज्वलंत प्रतीक है। प्राचीन

आर्यों ने गाय को ''मातेव रक्षति'' अर्थात् यह माता हमारी रक्षा करे–कहा है। पुराणकाल में एक ऐसी गाय की कल्पना की गई है, जो हमारी सभी इच्छाओं की पूर्ति करती है। इसे कामधेनु कहते हैं। यह स्वर्ग में रहती है और कभी–कभी जनमानस के कल्याण के लिए मानव–लोक में अवतार लेती है। इसी भाव से साक्षात ईश्वर के ही गाय के रूप में जन्म लेने की कल्पना की गई है। योगेश्वर कृष्ण ने गाय की सेवा द्वारा वह पथ दिखाया था, जिससे हम उस आदर्श को जीवन में ग्रहण कर सकें। गृह सूत्रों के अनुसार जब विवाह आदि संस्कार होते हैं, तो दक्षिणा रूप में गाय ही दी जाती है। अथर्ववेद में गो–सूक्तों में गौ माता के महत्व का प्रतिपादन करते हुए अनेक उपयोगी सिद्धांत वाक्य कहे गए हैं, जो यहाँ उद्धृत किए जाते हैं–

माता रुद्राणां दुहिता वसूना स्वसाऽऽदित्याममृतस्य नाभिः।
प्रनु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट॥

अर्थात्–गाय रुद्रों की माता, वसुओं की पुत्री, अदिति पुत्रों की बहिन और घृत रूप अमृत का खजाना है। प्रत्येक विचारशील को चाहिए कि निरपराध एवं अवध्य गौ का वध न करे।

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीर चित् कृणुथा सुप्रतीकम्।
भद्र गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो वय उच्यते सभासु॥

गौओ! तुम कृश शरीर वाले व्यक्ति को हृष्ट–पुष्ट कर देती हो एवं तेजोहीन को देखने में सुंदर बना देती हो। इतना ही नहीं, तुम अपने मंगलमय शब्दों से हमारे घरों को मंगलमय बना देती हो। इसी से सभाओं में तुम्हारे ही महान यश का गान होता है।

गौ से असंख्य लाभ हैं। गौधन की उपयोगिता को हिंदुओं ने समझकर ही उसको इतना ऊँचा स्थान प्रदान किया है।

भारत जैसे कृषि प्रधान देश के लिए गौ माता और गौरक्षण धर्म है। गौधन का ऊँचा महात्म्य है। गौमाता से मानव–समाज को जो असंख्य लाभ हैं, उनके कारण मानव जाति सदैव ऋणी रहेगी। गौ वंश का ह्रास आर्थिक और धार्मिक दोनों ही दृष्टियों से राष्ट्र और समाज के लिए हानिकर है। प्रत्येक गाँव और शहर के चारों ओर यथेष्ट गोचर–भूमि छोड़नी चाहिए और गौशालाओं की वृद्धि के प्रयत्न होने चाहिए, जिससे दूध, घी, खाद और हृष्ट–पुष्ट बैलों की प्राप्ति होती रहे। भारतवर्ष में गौ–पालन सनातन धर्म है, उसका पालन होते रहना चाहिए।

गीता जी हमारे लिए ज्ञान, बुद्धि, कर्मयोग और आत्मिक, नैतिक शिक्षा का अक्षय भंडार है। गीता का ज्ञान सदा हर क्षेत्र और जीवन के हर स्थान पर काम में आने वाला सद्ज्ञान है। भगवान श्रीकृष्ण ने अपने श्रीमुख से उच्चारण कर इस उपदेश में वह समस्त ज्ञान–भंडार भर दिया है, जो जीवन की प्रत्येक गुत्थी को सुलझाने और गाँठ को खोल देने की सामर्थ्य रखता है। प्रत्येक श्लोक में असंख्य युगों का ज्ञान–नवनीत एक ही स्थान पर केंद्रित कर दिया गया है। इसके एक–एक श्लोक में वह शक्ति, वह ज्ञान, वह विवेक, वह उपदेश, वह नीति धर्म मिलता है, जिसके मुकाबले का दूसरा ग्रंथ आज तक किसी देश और किसी भाषा में नहीं लिखा गया है।

गंगाजी का जल ऐसे रासायनिक तत्वों से परिपूर्ण है, जिसके सेवन और स्नान से मनुष्य को असंख्य लाभ होते हैं। वैद्यक ग्रंथों का मत है कि अजीर्ण, पुराना ज्वर, तपेदिक, पेचिश, दमा, मस्तक शूल आदि रोगों के लिए गंगाजल बहुत ही लाभदायक है। इसमें स्वास्थ्य को सबल बनाने और संक्रामक कीटाणुओं को नाश करने की शक्ति है। कोढ़ के रोगियों को गंगा किनारे रखने का यही प्रयोजन है कि वहाँ की जलवायु से

कुष्ट रोग ठीक हो जाता है। प्रयोग करके देखा गया है कि गंगाजल के प्रयोग से कोढ़ रुक जाता है। वहाँ का जलवायु भी उत्तम है। जड़ी–बूटियों में होता हुआ बर्फ का शुद्ध जल गंधक, चाँदी, सोना, अभ्रक इत्यादि–इत्यादि बहुत से रासायनिक तत्वों को लेकर बहता हुआ मनुष्य मात्र के लिए गुणकारी है। शोधक और रासायनिक तत्वों के कारण गंगाजल मानव के लिए उपकारी है।

गंगाजी की विशेषता और महानता को दृष्टि में रखकर ही इसे हिंदू धर्म में स्थान दिया गया है। अभी तक गंगाजल के विषय में खोज बीन हो रही है। विश्व को एक दिन गंगा जी की महिमा ज्ञात हो जाएगी। जिस दिन इसके रासायनिक तत्वों की पूरी जानकारी हो जाएगी, संसार को गंगाजी की महिमा उसी प्रकार स्वीकार करनी पड़ेगी जिस प्रकार हिंदू लोग करते हैं।

तात्पर्य यह है कि गायत्री, गौ, गीता और गंगाजी के असंख्य लाभों को दृष्टि में रखकर ही उन्हें भारतीय संस्कृति में इतना मान दिया गया है। यह सर्वथा उचित है। कोरी अंधश्रद्धा या रूढ़ि नहीं है।

गंगा स्नान का पुण्य फल किसे?

गंगा स्नान का पर्व था। भारी भीड़ थी। भारी भीड़ स्नान का पुण्य लाभ करने के लिए जा रही थी। सभी गंगा माता की जय बोल रहे थे।

शंकर पार्वती सूक्ष्म शरीर से आकाश मार्ग से उधर होकर निकले। पार्वती ने इतनी भीड़ को एक ही दिन में गंगा स्नान के लिए जाने पर आश्चर्य व्यक्त किया और शंकर जी से इसका कारण पूछा।

शंकर जी ने कहा–आज सोमवती अमावस्या का पर्व है।

शास्त्रों में इस पर्व का बहुत महात्म्य बताया गया है और गंगा स्नान करने वाले स्वर्ग जाते हैं, ऐसा लिखा है। इसी कारण हर पर्व पर इतने लोग गंगा स्नान को आते हैं। पार्वती जी का असमंजस और भी बढ़ गया। उन्होंने कहा–स्वर्ग से तो हम लोगों का संपर्क निरंतर रहता है। वहाँ तो थोड़ी जगह है। इतने लोग हर पर्व पर आते हैं, हर साल कई–कई सोमवती अमावस्याएँ पड़ती हैं, एक वर्ष में ही करोड़ों लोग डुबकी लगाते हैं। सौ वर्ष में, तो उनकी संख्या इतनी हो जाएगी जितनी के लिए वहाँ खड़े होने की भी जगह नहीं है, इसलिए यह महात्म्य गलत मालूम पड़ता है। साथ ही शास्त्र लिखने वाले ऋषि झूठ क्यों बोलेंगे? यह बात भी समझ में नहीं आती। देव! इस संदेह का निवारण कीजिए।

शिवजी बोले देवि! स्नान के साथ मन को स्वच्छ बनाने की भी शर्त है। उसका पालन यह स्नान करने वाले करते नहीं। ऐसी दशा में वे मेला मनोरंजन भर कर पाते हैं। उस पुण्य के भागीदार नहीं बनते, जो शास्त्रकारों ने स्वर्ग जाने के रूप में कहा है।

पार्वती जी की शंका का निराकरण न होते देखकर शिवजी ने उन्हें उदारहण प्रस्तुत करते हुए वस्तुस्थिति समझाने का प्रयत्न करने की बात सोची। उन्होंने एक नाटक रचा। जिस रास्ते से दर्शनार्थी जा रहे थे, उसी से सटकर दोनों वेश बदलकर बैठ गए। शिवजी ने वयोवृद्ध कोढ़ी का रूप बनाया। पार्वती को असाधारण सुंदरी बनाकर पास में बिठा लिया। इस विचित्र जोड़े को देखकर दर्शनार्थी पूछते कि आप लोग आपस में कौन हैं? यहाँ किस प्रयोजन से बैठे हैं? पूर्व गढंत के अनुसार पार्वती कहती हैं कि यह वृद्ध मेरे पति हैं। इनकी इच्छा गंगा स्नान की हुई। अंग इनके काम नहीं देते, सो इन्हें मैं अपनी पीठ

पर लादकर यात्रा पूरी कर रही हूँ। बहुत थक जाने के कारण हम लोग यहाँ बैठे आराम कर रहे हैं। जल्दी ही शेष यात्रा फिर आरंभ करेंगे। कल ही तो सोमवती अमावस्या है।

पूछने वालों में से अधिकांश की कुटिल दृष्टि थी। इशारों–शब्दों से उनमें से प्रत्येक ने अपने–अपने ढंग से एक ही परामर्श दिया कि इस बुड्ढे को गंगा में ढकेल देना चाहिए और रूपसी को अपने साथ ले चलना चाहिए। उसके लिए हर प्रकार की सुख–सुविधा उपलब्ध कराई जाएगी, चैन से जिंदगी कटेगी।

इन परामर्शों को सुनते–सुनते पार्वती हैरान हो गईं कि यह कैसे धर्मात्मा लोग हैं? वे भी गंगा स्नान करने जा रहे हैं जिनके मन इतने कलुषित हैं, तो धर्माडंबर रचने से क्या लाभ? पार्वती जी पूछ बैठीं–नाथ! क्या सभी धर्मात्मा ऐसे ही होते हैं? इस पर शिवजी बोले–हाथ की पाँचों उँगलियाँ एक बराबर नहीं होतीं। इस भीड़ में कुछ सच्चे लोग भी होते हैं। वह भी तुम्हें देखने को मिलेंगे।

प्रतीक्षा के बाद एक भावुक भक्त इधर आया। ध्यान पूर्वक देखा। इन पति–पत्नी की परिस्थिति और मनोदशा परखता रहा। गद्‌गद हो गया। सुंदरी के पद–वंदन करता हुआ बोला–देवि, तुम धन्य हो। तुम्हारी जैसी नारियों की धर्म भावना से यह धरती, आकाश अपनी जगह पर स्थित है। मैं कुछ आप लोगों की सेवा करना चाहता हूँ। मेरे पास कुछ सत्तू हैं। इसे आप लोग ग्रहण करें। भूखे होंगे न? इसके बाद इन वृद्ध सज्जन को मैं अपनी पीठ पर बिठा कर गंगा स्नान कराऊँगा। आप कहेंगी, तो आपके घर तक भी इन्हें पहुँचा आऊँगा।

शिवजी ने पार्वती से कहा–देखा, इतनी भीड़ में केवल यह आदमी तीर्थ सेवन की, गंगा स्नान की शर्तों को पूरा कर रहा था। यही है, वह जिसको स्वर्ग जाने का वह प्रतिफल मिलेगा, जिसका प्रतिफल वर्णन गंगा स्नान के संबंध में ऋषि–

मनीषियों ने किया है।

वास्तव में संसार के किसी भी देश की संस्कृति ने एक सरिता को नदी रूपी जलप्रवाह को अपने माँगलिक कार्यों में इस प्रकार इतनी श्रद्धा और अनुराग के साथ कभी ग्रहण नहीं किया होगा, जितना पुण्य सलिला गंगा को। गौमुख में गंगोत्री ग्लेशियर से निसृत गंगा की भौगोलिक एवं प्राकृतिक विलक्षणता ने संसार के अनेकानेक मनीषियों, अनुसंधानकर्त्ताओं को आकर्षित किया है, किंतु इन शिखरों के ऊपर से, जो हिमानी ग्लेशियर सैकड़ों वर्ग मील में फैला है, उसके जटिलपथ की खोज का कार्य अभी तक किसी के लिए भी संभव नहीं हुआ है। गंगा एवं हिमालय एक दूसरे से अविछिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। भारतीय संस्कृति का प्रथम मंत्र गंगा का मंत्र है। गंगा के किनारे ही पहला मंदिर बना था। गंगा के तटवर्ती क्षेत्रों में ही पहला जनपद बसा था।

बँगला के प्रसिद्ध कवि द्विजेंद्रलाल राय ने अंतरिम श्रद्धा व्यक्त करते हुए भावपूर्ण शब्दों में लिखा है–

परिहरि भव सुख–दु:ख जे खले,
माँ ! शापित अंतिम शपने।
वरषि श्रवणे तब जल कल–कल,
वरषि सुप्ति मम नयने।
वरषि शांतिमम शंकित प्राणे,
वरषि अमृत मम अंगे।
माँ ! भागीरथि जान्हवि सुरधुनि,
हे कल्लोलिनि गंगे।

तुम जन्मजन्मांतरों के दु:खों को दूर करने वाली हो। अंतिम समय मेरे शंकित मन और प्राणों को शांति और तृप्ति प्रदान करो। अपने अमृतमय जल की हमारे संपूर्ण अंगों में वर्षा करो।

मुद्रक: युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा